प्रथम संस्करण २०००
[अप्रैल १९५१]

अहिंसा और उसके विचारक

[निबन्ध-संग्रह]

प्रकाशक
साहित्य विभाग,
आदर्श-साहित्य सघ
सरदारशहर (राजस्थान)

१ अप्रैल, १६५१
प्रथम संस्करण २०००

मुद्रक
मदनकुमार मेहता
रेफिल आर्ट प्रेस
(आदर्श-साहित्य-सघ द्वारा सचालित)
३१ बडतल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता।

प्राक् कथन

एव तुल मन्नेसि—प्राणी मात्रके साथ समताका अन्वेषण करो—आय तुले पयासु—प्राणी मात्रको आत्मतुल्य समझो—या भगवान् महावीरकी वाणीसे समताका स्वर निकला। जैन दर्शनमें—'अणग जीवा-पुढोसत्ता' जीव-नानात्वकी मान्यता है—स्वतन्त्र अनन्त आत्माओं का अस्तित्व माना गया है। आत्मा न तो एक है, न ईश्वरीय अंश और न व्यापक। जीव-नानात्ववादका फलित है आत्मौपम्य बुद्धि और एकात्मवादका फलित है ऐक्य बुद्धि—अभेद बुद्धि। प्रश्न हो सकता है—आत्मैक्यके बिना अहिंसा या दया कैसी? प्रतिप्रश्न भी हो सकता है—आत्मैक्यके अनुसार अहिंसा या दया कैसी? अहिंसा या दया आत्मनिष्ठ है आत्म गुण है, वह आत्मासे उपजती है। समानताकी भावनासे पुष्ट होती है। हिंसासे निवृत्त होनेमें अपने अनिष्टकी संभावना अधिक कार्य करता है। हिंसासे अपना पतन न होता हो तो मनुष्य शायद ही अहिंसाकी बात सोचे। तात्पर्यार्थ परसे

सोच तो अहिंसाका अर्थ है—अपना बचाव। इसम (अपने बचावम) दूसरेकी रक्षा या दया जो कुछ भी कहिये अपने आप हो जाती है। भगवान् महावीरने जगत्के समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये प्रवचन किया—ऐसा शास्त्रकारोंने बताया है। क्या कोई भी व्यक्ति प्राणीमात्रकी रक्षा कर सकता है?

ससारमे मात्स्य—परपरा निर्बाध गतिसे चल रही है। तब फिर सब जीवोंकी रक्षाके लिये प्रवचन किया, इसका क्या अर्थ? मनुष्य सर्वशक्तिमान नहीं, जाकि जो चाहे सो करे, मरती दुनियांको बचाले।

हमने जिस दृष्टिसे रक्षाका आशय रखा वह भूलका ही स्रोत है। आगे मार्ग कैसे मिले? एक व्यक्ति सर्वशक्तिमान भले न हो, प्राणीमात्रकी रक्षा कर सकता है। कैसे कर सकता है, इस दृष्टिको पकड़नेमें भूल नहीं होनी चाहिए। रक्षाकी पूर्णतामें अहिंसा महाव्रतकी भावना छिपी हुई है। अहिंसा महाव्रती जो प्राणीमात्रकी हिंसा न करनेका दृढ़ सकल्प किये हुए है, जीवमात्र का रक्षक होता है। उसकी सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण सर्वप्राणातिपातविरतिकी प्रतिज्ञा इसका मजबूत प्रमाण है। शास्त्रकारोंने स्थान स्थान पर मुनिको षट् जीव निकायका सरक्षक कहा है। इससे प्रवचनका प्रयोजन— सव्व जगजीवरक्खणदय ट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं भी चरितार्थ होता है कि अहिंसा की प्रवृत्ति करनेके लिये भगवान् महावीरने प्रवचन किया। अहिंसामें सब जीवोंकी रक्षा या दया अपने आप समाविष्ट है।

जो अपने लिये अहिंसा यानि पूर्ण आत्म सयम है वही दूसरेके लिये रक्षा या दया है। भगवानने प्रवचनके विस्तारमें अहिंसा के पृथक् पृथक् नाम बतलाते हुए उसे रक्षा, दया, सर्वभूतक्षेमकरी कहा है। इसलिए अहिंसा और दयाका अविनाभावी सम्बन्ध है। अहिंसा है दया नहीं या दया है अहिंसा नहीं, यह कभी नहीं हो सकता।

आचार्य श्री भिक्षुने इस दृष्टिकोणके साथ अहिंसा क्षेत्रमें पादन्यास किया। उनके विचार लोगोंको विचित्र और नये लगे। जनताने उनपर बहुत आरोप भी किये पर उनका दृष्टिकोण साफ था इसलिए उन्हें अपने पथसे हटनेकी आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। इस पुस्तकमें इसी विषय पर लिखे गये निबन्धोंका एक रूप है। उनमें आचार्य भिक्षुके दृष्टिकोणको समझानेका स्वल्प प्रयत्न किया गया है। स्थिति ऐसी है कि हम आध्यात्मिकताकी भूमिका पर चढ़ देखें तो ये विचार स्पष्ट और सीधे हैं। संसार और मुक्तिका अलग-अलग रास्ता जाता है और यदि हम राग द्वेषके स्तरपर टिके हुए हैं तो हम सत् दृष्टि प्राप्त हुए बिना कैसे रहें? प्रत्येक वस्तुको परखनेके लिए हमें एक ही कसौटी नहीं रखनी चाहिए।

हमारे परम पूजनीय आचार्य श्रीतुलसीगणीने आचार्य श्री भिक्षु स्वामीके दयादान सम्बन्धी दृष्टिकोणको बड़े सीधे शब्दोंमें धामिक जगत्के सामने रखा है। आचार्य श्रीके समय-समय महत्वाद्भुत विचारोंका यह एक छोटासा संग्रह है, जो कि मेरी

ऐसनो द्वारा सकलित हुआ है। आशा है, विषयकी गभीरता होते हुए भी पाठकजन इसे सहृदयतासे सरल बनालेंगे।

सं० २००७,
श्रावण शुक्ला ४,
हाँसी (पूर्वी पजाब)

मुनि नथमल

प्रकाशकीय—

आजके लोक-जीवनको समुन्नत और विकसित करनेके लिये ऐसे साहित्यकी आवश्यकता है जो जीवन निर्माणके साथ जन जनमें ज्ञान और दर्शनका आविर्भाव कर सके। लोक साहित्यमें एक नवीन प्रेरणाके साथ युग धर्म और उसके स्तुत्य आदर्शोंका सञ्चार ही वर्तमान प्रकाशनका मुख्य उद्देश्य है। इस दिशामें 'आदर्श साहित्य संघ' अपने मौलिक लक्ष्यको लेकर विभिन्न मालाओंके रूपमें सुव्यवस्थित प्रकाशन करता रहा है और आज भी इसके लिये सतत प्रयत्नशील है।

आजके युग धर्ममें 'अहिंसा' का एक सार्वभौम स्थान है। यह एक सर्वव्यापी धर्म है। धर्ममें ही अहिंसा और अहिंसामें ही धर्मकी आत्म व्यापक सत्ता निहित है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो अपरिवर्तित है। लेकिन समयके साथ धर्मको भी सुविधानुकूल बनाकर अहिंसा जैसे मौलिक दर्शनको कुछ विकृत रूप दे

दिया है। जैन दर्शनमें अहिंसा और उसके साधक प्रमुख विचारकोंने अपनी आत्म साधनाके साथ अहिंसा पर जो मौलिक विचार दिये हैं, वह पौराणिक तथ्य और दर्शनकी एक वस्तु भित्ति को लिये हुए हैं, जिसको सकलित कर दार्शनिक मूर्धन्य मुनिश्री नथमलजीने इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। यह आजकी लोक-भाषा और लोक साहित्यमें आध्यात्मिक विचारधाराकी मौलिक देन है।

'सर्वोदय ज्ञानमाला" के अन्तर्गत प्रस्तुत ज्ञान राशिका प्रकाशन पाठकोंके समक्ष रखते हुए हमे गौरव है। शीघ्रतावश प्रकाशन में कोई त्रुटि रह गई हो तो हम हृदयसे क्षमाप्रार्थी हैं।

—प्रकाशक मंत्री



"अहिंसा और उसके विचारक" स र्वो द य ज्ञा न मा ला का तृतीय पुष्प है। जिसका उद्देश्य सर्वसाधारण में अहिंसा धर्म के प्रसार के साथ ज्ञान ज्योति जागृत करना है। जिसके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में रतनगढ़ (राजस्थान) के उत्साही युवक श्री हँसराजजी हुलासचन्दजी गोलछा ने अपनी धर्मनिष्ठा स्व० माता श्री धापीदेवीजी (धर्मपत्नी श्री रामलालजी गोलछा) की पुनीत स्मृति में नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्य सुरुचि का परिचय दिया है जो सब के लिए अनुकरणीय है। आदर्श साहित्य संघ की ओर से हम सादर आभार प्रकट करते हैं।

—प्रकाशन मन्त्री

विषयानुक्रम

अहिंसा और उसके विचारक

आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण

(दया दान पर)

'सत्ये नास्ति भयं क्वचित्' यह लोकोक्ति अक्षरशः चरितार्थ है। जिनको अपनी सचाई पर विश्वास होता है, उन्हें कहीं भी भय नहीं होता। जिनमें आत्मबल एवं आचार विशुद्धिकी कमी होती है, उन्हें पल पल यह डर बना रहता है, कहीं कोई हमारा अधिकार न छीनले। उन्हें अपनी कृत्रिम एवं तथ्यहीन सत्ताको कायम रखनेके लिए असम्भावित जाल बिछाने पड़ते हैं। खैर, जो कुछ हो, हमें तो भगवान् महावीरके अहिंसाधर्मका प्रचार करना है। किसी पर आक्षेप करना हमारा काम नहीं और न हमने आज तक ऐसा किया है।

जब हम कई व्यक्तियों द्वारा प्रचारित तेरापंथकी परिभाषा देखते हैं, तब हँसी आए बिना नहीं रहती। प्रत्येक विद्वान् मनुष्य यह सोच सकता है कि चूहे बिल्ली जैसे निर्मूल सिद्धान्तोंकी भित्ति पर क्या कोई भी सम्प्रदाय टिक सकता है ? क्या [illegible] आगमोंके,

परम पुजारी और भगवान महावीरके अनन्य भक्त भिक्षु स्वामी दया धर्मके विरोधी हो सकते हैं? जिन्होंने अपने जीवनमें अहिंसाकी वीणाका तार मनमनाया—दयाका स्वर अलापा, वे भिक्षु स्वामी दयाके उत्थापक। उनके दया विषयक कुछ हार्दिक उद्गार तो देखिये—

जिन मारग रा जीव दया ऊपर
लाजो हुवे ते पास।
जा हिंसा कियाँ धी धम हुवे तो
जल मथियाँ घी आवे॥'

स्वामीजीका अभिप्राय दयाका निषेध करनेका नहीं किन्तु दयाको हिंसासे बिल्कुल पृथक्रूपसे समझानेका था और इसी आशयको आपने अपने अहिंसात्मक जीवनका लक्ष्य बनाया जिसके प्रतीक आज भी उनके शब्दोंमें सजीव हैं। देखिए—

हिंसा री करणीमें दया नहीं
दया री करणीमें हिंसा नाही।
दयान हिंसा री करणी न्यारी,
ज्यूं तावडो ने छाहीं॥

आपने एक वीर योद्धाकी तरह निर्भीकताके साथ अहिंसाके शीर्षस्थानीय सिद्धान्त जनताके सामने रक्खा। भगवान् महावीरकी वाणीके एक महान् रहस्यको प्रकाशमें लाये। सर्वतोमुखी विरोध एवं भयानक कष्ट सामने आए तो भी वह धैर्यका पुतला अपने ऊ्यमूल सिद्धान्तसे एक रेखा मात्र भी नहीं हटा। उनके

विजयी शंखनाद पूर्ववत् सत्यका संदेश फूंकता रहा। कुछ गौरसे देखिए, उन्होंने क्या लिखा है—

ओर वस्तुमें भेल हुवे पण दयामें नहीं हिंसा रो भेलो।
ज्यू पूरब ने पच्छिम रो मारग किण विध खावे मेलो ॥'

स्वामीजीके तलस्पर्शी दृष्टिकोणमें दयाका जितना महत्त्व था, उतना ही विश्लेषण। वे एक अज्ञानीकी तरह समझे बूझे बिना केवल दयाके नामसे ही मन मुग्ध होनेवाले नहीं थे। जरा उनके हृदयकी पुकार सुनिए—

भोले मत भूलज्यो अनुकम्पा रे नाम।
कीज्यो अन्तर पारखा, ज्यूं सीझे आतम काम ॥ १ ॥
दया दया सबको कहै ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओळख ने पाळसी, त्यांरे मुक्ति नजीक ॥ २ ॥

उपर्युक्त विचारोंका मनन करनेके बाद प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको यह अनुभव होगा कि उन्होंने दयाका विरोध नहीं किन्तु विश्लेषण किया था। वे दयाधर्मके उत्थापक नहीं किन्तु निष्पक्ष विवेचक थे। उन्होंने कब कहा कि जीवोंकी दया मत करो, जीवोंको मत बचाओ, बिल्लीसे चूहोंको मत बचाओ या अमुकसे अमुकको मत छुड़ाओ। भगवान् महावीरके उपदेशोंका सारांश बतलाते हुए उनकी वाणीमें जो तत्त्व प्रस्फुटित हुआ, उसका सही रूप यह है—आत्म दया वही है—

(१) जिसमें किसी प्रकारकी हिंसा न हो, राग, द्वेष, मोह

एवं स्वार्थ आदिकी प्रवृत्ति न हो। इसके अतिरिक्त जो शुद्ध दया है, वह व्यावहारिक दया है।

(२) वही दान धर्मका अंग है, जो पूर्ण त्यागी अर्थात् संयमी को दिया जाय इसके सिवाय दूसरा दान सांसारिक है।

(३) आध्यात्मिक सहायता पहुंचाना धर्म-सेवा या धार्मिक उपकार है और भौतिक सहायता करना लोक-सेवा या लौकिक उपकार है।

(४) धर्म अपनी अपनी इच्छासे किया जा सकता है, जबरदस्तीसे किसीके सिर पर थोपा नहीं जा सकता।

(५) धर्म आत्म साधनामें है, भौतिक संरक्षणमें नहीं।

(६) धर्म आत्म-शुद्धिमें है भौतिक सन्तुष्टिमें नहीं।

(७) असंयम जीवनका पालन पोषण एवं रक्षण धर्म नहीं हो सकता।

(८) असंयमीके जीनेकी इच्छा करना राग है, मरनेकी इच्छा करना द्वेष है और उनके आत्म कल्याणकी इच्छा करना धर्म है।

(९) भगवान् महावीरने असंयमीके शरीरको परिग्रह और असंयमीके जीवनको द्रव्य शस्त्र कहा है अतएव असंयमी चाहे खुद खाये, पीये, चाहे किसी दूसरे असंयमीको खिलाये, पिलाये, इसमें आध्यात्मिक धर्म नहीं हो सकता।

इन परिभाषाओंको पढ़कर समझते वहुतसेयक व्यक्ति अपने आप यह पूछेंगे कि जैसे जैनधर्म लौकिक एवं व्यावहारिक दया, दान एवं उपकारमें धर्म नहीं मानता, वैसे ही यदि सर्व धर्म मानने

पाल मानने लग जाय तो फिर दुनियाका काम ही कैसे चले ?

हां, हम मानते हैं कि यह एक प्रश्न है पर यह केवल प्रश्नके लिए ही प्रश्न है, तथ्यके लिए नहीं। क्योंकि यह व्यावहारिकतासे दूर है। आपने सुना होगा जैसे बहुतसे लोग ब्रह्मचर्यका उपदेश सुनकर कहा करते हैं कि अगर हम सब ब्रह्मचारी बन जाय तो यह दुनिया ही कैसे चले। किन्तु गृहस्थाश्रममें रहनेवाले सब ब्रह्मचारी नहीं बनते वैसे ही गृहस्थ व्यावहारिक कार्योंको भी नहीं छोड़ते। जिसे भूख लगेगी, उसे खेती करना होगी, चाहे वह खुद करे या दूसरेसे कराय। पानी पीना है तो कुएँ, तालाब, बाघ या अन्य किसी रूपमें जलसंचय करना होगा। कौन ऐसा व्यक्ति है, जो समाजसे सम्बन्ध विच्छेद कर अपना निर्वाह कर सके। प्रत्येक सामाजिक प्राणीको किसी न किसी रूपमें समाजके व्यक्तियोंका सहयोग प्राप्त करना पड़ता है और उन्हें वह देना भी पड़ता है।

धर्मका प्रश्न अपना व्यक्तिगत प्रश्न है, धर्म कोई चाहे तो करे, नहीं तो नहीं —किन्तु सामाजिक कर्म तो समाजके लिहाज से भी करने होते हैं। एक नास्तिक जिसके लिए धर्म पुण्य कोई चीज नहीं, वह भी किसी दुःखीकी सहायता करता है, दूसरेके दुःखसे द्रवित होता है तो किसी धार्मिक प्रेरणासे नहीं, केवल अपनी सामाजिक स्थितिके आधार पर ही वह असमर्थकी सेवा करना अपना कर्तव्य मानता है। मानवताके नाते एक मानव दूसरे मानवकी अवश्यक सेवा किये बिना कैसे रहेगा ? यह

एक जातिगत सम्बन्ध है। एक मनुष्य कराहते हुए पशुको छोड कर एक पीडित मनुष्यकी ओर पहले दौड़ेगा यशर्ते कि वह पशु अपना न हो। स्वार्थकी भावनामें तो यह जातिगत सम्बन्ध भी बिगड़ जाता है। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि जिस दया एव उपकारमें स्वार्थ हो, वे ही व्यावहारिक होते हैं। हमारा मुख्य दृष्टिकोण यह है कि असयम जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाला पालन पोषण या रक्षण धार्मिक नहीं हो सकता। हम यह कहना नहीं चाहते कि आप गृहस्थमें रहते हुए यह सब छोड दें। आप पूछेंगे कि यदि इनमें धर्म नहीं माना जाता, तब फिर आप इनको छोडनेका उपदेश क्यों नहीं देते? हाँ, यह ठीक है, प्रत्येक सांसारिक वृत्तियोंका त्याग करवाना हमारा लक्ष्य है। प्रत्येक लौकिक कार्योंको छोडनेका उपदेश देना हमारा कर्तव्य है। परन्तु यह सब साधककी साधनाकी स्थितिको देखकर ही किया जाना चाहिए। जो व्यक्ति क, ख तक नहीं पढा, उससे पहले उसे व्याकरणका महाभाष्य पढाना आदेय नहीं होता।

हाँ, यदि कोई साधक सब सांसारिक वृत्तियों को त्यागना चाहे—साधुव्रत स्वीकार करना चाहे, तो हम अच्छी तरहसे करवा सकते हैं। किन्तु जो गृहस्थीको छोडना नहीं चाहते, उनको हम कैसे तो यह उपदेश दें और कैसे यह त्याग दिलायें कि आप अपनी गृहस्थीके काम सब कुछ करते रहें, सिर्फ दूसरोंकी सहायता न करें, इसका क्या अर्थ हो सकता है। दूसरोंकी सहायता करनेमें धर्म नहीं तो क्या अपनी गृहस्थी चलाना धर्म है?

यदि कहा जाए कि अपने घरका धन्धा किये बिना वह जीवित नहीं रह सकता तो क्या यह सम्भव है कि कोई सामाजिक मनुष्य दूसरोंका सहयोग किये बिना या लिए बिना जीवन निर्वाह कर सके ? सिद्धान्तोंके आदर्शों एवं विधि निषेधों का अवलोकन करनेवाले मुनि किसी समय भी द्रव्य,क्षेत्र, काल एवं भावको देखे बिना न तो कोई उपदेश करते हैं और न त्याग भी करवाते हैं। गृहस्थका खाना, पीना सब अव्रत है, धार्मिक कार्य नहीं, तो क्या हम उन सबको सबसे पहले यही उपदेश दिया करें कि भाई! तुम्हारा खाना-पीना हिंसा है अतः तुम सब अनशन कर दो। अनुचित समयमें ऐसा उपदेश देना अविवेकपूर्ण कार्य होगा। जिसके लिये जो असमर्थ हैं, उनको वह करनेके लिये कहना कभी सफल नहीं होता। हमारा कार्य तो यह होना चाहिए कि हम धार्मिक तत्त्वोंको यथार्थरूपेण जनताके समक्ष रख दें, उन्हें धर्म अधर्मका मार्ग समझा दें, उनका पालन करना या न करना तो उनकी शक्तिपर ही निर्भर होगा।

जैन-दर्शनमें सम्यक्-क्रियासे सम्यक्-ज्ञानका स्थान पहला है। जो तत्त्व जैसा है, उसको वैसा ही समझे और विश्वास करे, यह सम्यक्त्वी श्रावकका सबसे पहला कर्त्तव्य है। करना कुछ, तथा समझना कुछ यह सबसे बड़ा अनर्थ है। राजनीतिमें तो फिर भी उसकी प्रतिष्ठाको व्यवस्थित रखनेके लिए यह उचित माना जा सकता है। किन्तु अन्तर्मलको धो डालनेवाली धार्मिक क्रियाऍ दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब उल्टा नहीं हो सकता। अतएव

भिक्षु स्वामीने प्रत्येक आलोचनीय प्रश्नकी पृष्ठभूमिका निर्माण इन्हीं शब्दोंसे किया है कि 'हम धार्मिक दृष्टिकोणसे न तो गृहस्थ को आवश्यक कार्य करनेकी प्रेरणा करते हैं और न निषेध करते हैं। हमारा सिर्फ यही लक्ष्य है कि तुम जो कुछ करो उसे परखो और वैसा ही समझो जैसा वह है।' अब मैं अपने विज्ञ पाठकों से अनुरोध करूँगा कि उक्त शब्दोंका अभिप्राय क्या है? इसका तटस्थ वृत्तिसे मनन करें।

इस निबन्धमें मैं सिर्फ स्वामीजीके प्रारम्भिक दृष्टिकोणका दिग्दर्शन कराना चाहता था, उसी उद्देश्यको सामने रखते हुए मैंने एक छोटासा शब्द संकलन किया है। स्वामीजीने धर्म दया और व्यावहारिक दयाका पृथक्करण करनेमें कौन कौनसे आगम-हेतुओं का प्रयोग किया एवं किस यौक्तिक कसौटीसे उन्हें परखा, यह मैं नहीं कह पाया हूँ। मुझे आशा है कि समय समय पर उस पर भी कुछ लिख सकूँगा। हमारे जिज्ञासु पाठक पहले स्वामीजीके सार्वभौम दृष्टि-बिन्दुको समझ लेंगे तब फिर आगे आनेवाली आलोचनाओं को भी एक रहस्यभरी दृष्टिसे देखेंगे, मनन करेंगे और समझनेकी चेष्टा करेंगे। बस इसी अभिप्रायके साथ ।

अहिंसा

प्राणीमात्रका जीवन सक्रिय होता है। क्रिया अच्छी हो चाहे बुरी, उसका प्रवाह रुकता नहीं। उसकी अच्छाई या बुराईका मानदण्ड भी एक नहीं है। जन साधारणकी और धार्मिकोंकी परिभाषामें मौलिक भेद रहता है। कारण कि जन-साधारणका दृष्टिकोण लौकिक होता है और धार्मिकोंका दृष्टिकोण आध्यात्मिक। लोकदृष्टिसे किसी भी क्रियाको नितान्त अच्छी या बुरी कहना एकमात्र दुःसाहस है। जन साधारणकी रुचि एवं अरुचि पर नियन्त्रण करना शक्तिसे परे है। "विभिन्न रुचयो लोका" यह सिद्धान्त तथ्यहीन नहीं है। लोकमतमें परिस्थितियोंसे उतार चढ़ावका आवेग होता है। उसके अनुसार रुचि अरुचिमें भी परिवर्तन आ जाता है। सामान्य स्थितिमें प्रत्येक मनुष्यकी रक्षा करना धर्म माना जाता है। युद्धकालमें शत्रुओंकी हत्या करना परम धर्म बन जाता है। लोक-रुचिमें आपत्तिकाल, स्वार्थ, ममत्व, अज्ञान, आवेश, मोह ऐसे और भी अनगिनत

कारण अहिंसाके स्वरूप विकृतिके हेतु बनते हैं। आपत्ति कालमें हिंसा अहिंसा बन जाती है। मोह होता है और उसे दयाका रूप दिया जाता है। अज्ञानवश बहुत सारे लोग हिंसा और अहिंसाका स्वरूप भी नहीं समझ पाते। आध्यात्मिक दृष्टिकोणके सामने रुचि एवं अरुचिका प्रश्न ही नहीं उठता, उसमें वस्तु स्थितिका अन्वेषण करना होता है। जब अच्छाई या बुराईका मानदण्ड रुचि अरुचि नहीं रहता तब हमें उसके लिए एक दूसरा मानदण्ड तयार करना पड़ता है। फिर उसके द्वारा हरएक कामकी अच्छाई या बुराईको मापते हैं। वह (मापदण्ड) है संयम और असंयम, दूसरे शब्दोंमें कहें तो त्याग और भोग। इसके अनुसार हम संयममय क्रियाको अच्छी कहेंगे और असंयममय क्रियाको बुरी। दार्शनिक पण्डितोंके शब्दोंमें अच्छी क्रियाको असत् प्रवृत्ति निरोध और सत् प्रवृत्ति तथा बुरी क्रियाको असत् प्रवृत्ति कहना होगा। असत् प्रवृत्तिका नाम हिंसा है। असत् प्रवृत्तिके द्वारा प्राणवध किया जाता है या हो जाता है, वह भी हिंसा है। जैसे—"असत्प्रवृत्त्या प्राण-व्यपरोपणं हिंसा—असत्प्रवृत्तिर्वा" ऊपरकी कुछ पंक्तियोंमें हिंसाका स्वरूप बताया गया है। अहिंसा हिंसाका प्रतिपक्ष है। जो असत् प्रवृत्तिका निरोध है, सत् प्रवृत्ति है एवं सत्प्रवृत्तिके द्वारा आचरण किया जाता है, वह अहिंसा है

दो दृष्टियाँ

वस्तुओंका स्वरूप देखनेके लिए जैन आचार्योंने निश्चय और व्यवहार इन दो दृष्टियोंका उपयोग किया है। व्यवहार दृष्टि वस्तुका बाहरी स्वरूप देखती है और निश्चय दृष्टि उसका आन्तरिक स्वरूप। व्यवहार दृष्टिमें लौकिक व्यवहारकी प्रमुखता होती है और निश्चय दृष्टिमें वस्तु स्थिति की। व्यवहार दृष्टिके अनुसार प्राण वध हिंसा है और प्राण-वध नहीं होता, वह अहिंसा है। निश्चय दृष्टिके अनुसार असत् प्रवृत्ति यानी राग द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति हिंसा है और सत्प्रवृत्ति अहिंसा है। इन (दृष्टियों) के आधार पर हिंसा अहिंसाकी चतुर्भंगी बनती है। जैसे—(१) द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा, (२) द्रव्य हिंसा और भाव अहिंसा, (३) द्रव्य अहिंसा और भाव हिंसा, (४) द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा। राग द्वेषवश होनेवाला प्राण वध द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा है। जैसे—एक शिकारी हरिणको मारता है, यह द्रव्य यानी व्यव

द्वारम भी हिंसा है, क्योंकि वह हरिणके प्राण लूटता है, और भाव यानी वास्तवमें भी हिंसा है, क्योंकि शिकार करनेमें उसकी प्रवृत्ति असत् होती है। राग द्वेष बिना होनेवाला प्राण-वध द्रव्य हिंसा और भाव अहिंसा है। जैसे—एक सयमी पुरुष सावधानी पूर्वक चलता फिरता है तथा आवश्यक दैहिक क्रियाए करता है, उसके द्वारा अशक्य परिहार कोटिका प्राण वध हो जाता है, वह व्यवहारमें हिंसा है क्योंकि वह प्राणीकी मृत्युका निमित्त बनता है और वास्तवमें अहिंसा है—हिंसा नहीं है क्योंकि वहां उसकी प्रवृत्ति रागद्वेषात्मक नहीं होती है। राग द्वेप युक्त विचारसे अप्राणी पर घात या प्रहार किया जाता है, वह द्रव्य अहिंसा और भाव हिंसा है। जैसे—कोई व्यक्ति धुधले प्रकाशमें रस्सीको सांप समझकर उस पर प्रहार करता है, वह व्यवहारमें अहिंसा है, क्योंकि उस क्रियामें प्राण वध नहीं होता और निश्चयमें हिंसा है, कारण कि वहां मारनेकी प्रवृत्ति द्वेषात्मक है। जहां न रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति होती है और न प्राण वध होता है, वह सर्वसंवरस्प अवस्था द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा है। यह अवस्था दैहिक और मानस क्रियासे निवृत्त तथा समाधि प्राप्त योगियोंको होती है। भाव अहिंसाकी पूर्णता सयमी जीवनमें प्राप्त हो जाती है किन्तु द्रव्य अहिंसाकी अवस्था दैहिक चचलता छूटे बिना, दूसरे शब्दोंमें समाधि अवस्था पाये बिना नहीं आती।

अहिंसाका अर्थ

अहिंसाका शब्दानुसारी अर्थ है—हिंसा न करना। "न+हिंसा" इन दो शब्दोंसे अहिंसा शब्द बना है। इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विध्यात्मक दोनों है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण वध न करना या प्रवृत्तिमात्रका निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है, सत् प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय, अध्यात्म-सेवा, उपदेश, ज्ञान चर्चा आदि आदि आत्महितकारी क्रिया करना विध्यात्मक अहिंसा है। संयमीके द्वारा अशक्य कोटिका प्राण वध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा है यानी हिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसामें केवल हिंसाका वर्जन होता है, विध्यात्मक अहिंसामें सत्क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टिका निर्णय है। गहराईमें पहुंचने पर बात कुछ और है, निषेधमें प्रवृत्ति और प्रवृत्तिमें निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसामें सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसामें हिंसाका निषेध होता है। हिंसा न करनेवाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियोंको

शुद्ध न करे तो वह अहिंसा न होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसामें सत्प्रवृत्तिकी अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आन्तरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत्प्रवृत्त्यात्मक अहिंसामें हिंसाका निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत्य या अहिंसा नहीं हो सकती, यह निश्चय दृष्टिकी बात है। व्यवहारमें निषेधात्मक अहिंसाको निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसाको सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

निष्क्रिय अहिंसाका उपयोग

कई व्यक्ति निषेधात्मक अहिंसाको निठल्लोंका हथियार बताते हैं। प्रवृत्ति शून्य जीवन उन्हें नहीं रुचता। सब कुछ करते हुए अहिंसाका पालन करना, यही इनके सिद्धान्तका सार है। इसमें जितना तथ्य है, उसकी हम जांच करती है। नकारात्मक अहिंसा सबके लिए आवश्यक है। ससारोदासीन साधु सन्त ही इसका उपयोग करें, यह मानना उचित नहीं। क्योंकि जबतक हिंसाका निषेध नहीं किया जाता, तबतक प्रवृत्तियां सात्त्विक नहीं बनतीं। प्रवृत्तिको भी शुद्ध करनेके लिए निवृत्ति आवश्यक है। जो हिंसाको छोड़ता है, उसीके हृदयमें दया पनपती है। गृहस्थके लिए सब कुछ छोड़ना अनिवार्य नहीं। उसके लिए एक सीमा है। वह है—अनर्थ (अप्रायोजनिक) हिंसासे बचे, आवश्यकताओंको कम करे, प्रवृत्तियों का सयम करे। सब कुछ करना अहिंसा नहीं। किन्तु सब कुछ करनेमें सयम या सत् प्रवृत्तिका आचरण किया जाय यह अहिंसा हो सकती है। वीर बे

समरभूमिमें खेलते हैं, वह अहिंसा नहीं किन्तु निरपराधको नहीं मारते, अनुचित तरीकोंसे हत्या नहीं करते, निहत्थे योद्धापर वार नहीं करते, यह उनकी अहिंसा हो सकती है। सिद्धान्त रूपमें हम यों कह सकते हैं कि चाहे जैसा काम हो, राग द्वेषसे जितना बचाव किया जाय, वही अहिंसा है। सक्रिय अहिंसा जीवनकी कुछ एक घड़ियोंमें होती है। निष्क्रिय अहिंसाका उपयोग जीवनके प्रत्येक क्षणमें किया जा सकता है। किन्तु इसका उपयोग वही कर सकता है, जो सच्चा वीर हो। प्रवृत्तिकी अपेक्षा सत्प्रवृत्ति दुष्कर है, वैसे ही सत्प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्ति दुष्कर है।

अहिंसा और दया

अहिंसा और दया दोनों एक तत्त्व हैं। दयामें हिंसा या हिंसामें दया कभी नहीं हो सकती। यदि हम इनको पृथक् करना चाहें तो निवृत्त्यात्मक अहिंसाको अहिंसा एवं सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसाको दया कह सकते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्रमें अहिंसाके ६० पर्यायवाची नाम बतलाए हैं। उनमें ११ वां नाम दया है। टीकाकार मलयगिरिने उसका अर्थ "दया देहि-रक्षा" देहधारी जीवोंकी रक्षा करना किया है। यह उचित भी है क्यों कि अहिंसा प्राणातिपात विरमणमें जीव-रक्षा अपने आप होती है। मुनि सब जीवोंके रक्षक होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि दुनियां में जो जीव मर रहे हैं या मारे जारहे हैं, उनको वे येनकेन प्रकारेण बचाएं। इसका सही अर्थ यही है कि अपनी असत् प्रवृत्तिसे प्राणी मात्रको न कष्ट पहुंचाए और न मारे। अहिंसा या दयाकी पूर्णता अपनी असत् प्रवृत्तिका संयम करनेमें ही होती है या हो सकती है। कल्पना कीजिए कि दो व्यक्ति पशु वध

करनेकी तैयारीमें हैं, इतनेमें संयोगवश वहां मुनि चले गए। मुनिने उनकी आत्म कल्याणकी भावनासे उन्हें प्रतिबोध दिया। उनमेंसे एकने हिंसा छोड़ दी और दूसरेने मुनिका उपदेश नहीं माना। इसमें समझनेकी बात यही है कि एक व्यक्तिने हिंसा छोड़ी—उससे मुनिकी दया पूर्ण नहीं बनी और दूसरेने हिंसा नहीं छोड़ी, उससे उसकी दया अपूर्ण नहीं बनी, वे अहिंसक तथा दयाहीन नहीं बने। यदि यों अपूर्ण बन जाए, तब फिर कोई भी व्यक्ति पूर्ण दयालु बन ही नहीं सकता। पूर्ण दयालु हुए बिना आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना पड़ता है कि दयाकी पूर्णता और अपूर्णता अपनी प्रवृत्तियों पर ही निर्भर है। और इससे यह भी फलित होता है कि जीव रक्षा या दयाका सम्बन्ध अपनी सत्प्रवृत्तिसे ही है। जो व्यक्ति अपनी बुरी प्रवृत्तियों का संयम करता है, प्राणीमात्रको अभय दान देता है, वही जीवरक्षक है और वही दयालु है।

हरिभद्रसूरिने कहा है—आत्मा ही हिंसा और आत्मा ही अहिंसा है। अप्रमत्त आत्मा अहिंसक और प्रमत्त आत्मा हिंसक होती है।

सन्त तुलसीदासजीने भी आत्मदयाकी बड़े सीधे सादे शब्दोंमें व्याख्याकी है तथा नहीं मारनेको दया बताकर अहिंसा और दयाकी एकता दर्शाई है—

तुलसी दया न पार की दया आपकी होय।
तू किण न मारे नहीं तो तने न मारे कोय॥

आचार्य भिक्षुने दयाका अर्थ बतलाते हुए यहाँ लिखा है—

जीव जीव ते दया नहा मरे त हिंसा मत जाण।
मारनवाला न हिंसा नहीं नहा मार त दया गुण खान॥

इसप्रकार मार्मिक पण्डितोंने दया और अहिंसाका एकत्व माना है। इस एकत्वका कारण शाब्दिक व्युत्पत्ति नहीं है। उससे इनमे भेद मालूम पड़ता है, जैसे— हिंसा न करना अहिंसा और पालन करना दया, तात्पर्यार्थमें दोनों एक हैं। अहिंसा निषेध प्रधान है। जैसे हिंसा मत करो—असत् प्रवृत्तिका आचरण मत करो। दया विधिमुख है, जैसे—पालन करो—रक्षा करो। हिंसा नहीं होगी, वहाँ जीव रक्षा अपने आप हो जायगी और जीव-रक्षामें हिंसा वर्जना ही होगी, यही पहलेवाली बात है कि दया शून्य अहिंसा और अहिंसा शून्य दया कभी नहीं हो सकती। महात्मा गांधीने भी अहिंसा और दयाका सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है—

जहा दया नहीं वहा अहिंसा नहीं अत यो कह सकत ह कि जिसमें जितना दया ह उतना हा अहिंसा ह।

(गाधावाणी पृष्ट १७)

तर्क की कसौटी पर

अहिंसा और दया एक क्यों ? इसका तर्क दृष्टिसे भी समाधान पा लेना चाहिए। हिंसाका क्षेत्र व्यापक है। असत्य आदि उसके विभिन्न पहलू हैं। असत्य बोलना हिंसा है, चोरी हिंसा है, मैथुन हिंसा है, परिग्रह हिंसा है। इन सबमें अहिंसा भी नहीं, दया भी नहीं। शाब्दिक समानताको लेकर लोक दयाका अध्यात्म दयामें समावेश किया जाता है—तब अहिंसा और दयाकी परिभाषा एक नहीं रहती। यहाँ इनका सम्बन्ध निम्न प्रकारसे बनता है।

अहिंसामें दयाका नियम है, दयामें अहिंसाका विकल्प है, वह है भी और नहीं भी, कारण कि शाब्दिक साम्य बुद्धिसे दया दो प्रकारकी मानी जाती है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक दयासे अहिंसाका नित्य-सम्बन्ध है। व्यावहारिक दया वास्तवमें राग, मोह या अज्ञानजनित है और लोकदृष्टिमें दया है, इसलिए वह अहिंसात्मक नहीं हो सकती। लोकदृष्टिमें

दयाके लिए हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि भी उपादेय माने गये हैं। किन्तु धार्मिक दृष्टिकोणसे यह ठीक नहीं। क्योंकि एक बड़े जीवकी रक्षाके लिए अनेक छोटे मूक जीवोंका वध करना दया नहीं है, किन्तु स्पष्ट हिंसा है। इसे दया समझना मिथ्या ज्ञान है। एक समृद्ध व्यक्तिके लिए गरीबोंका गला घोटना न्याय नहीं हो सकता। बड़े जीवोंके लिए छोटे जीवों को मार डालनेमें दोष थोड़ा है और लाभ अधिक है, ऐसे सिद्धांत अहिंसा के सनातन सिद्धांतके नितान्त प्रतिकूल है। भगवान महावीरने कहा है—

> जे केइ खुद्दगा पाणा,
> अहवा संति महालया।
> सरिसं तेहिं वेरंति
> असरिसंति य नो वए॥

(सूत्रकृताङ्ग २५६)

अर्थात् एकेन्द्रिय आदि क्षुद्र—छोटे शरीरवाले प्राणी है अथवा पञ्चेन्द्रिय आदि बड़े—स्थूल शरीरवाले प्राणी हैं। उनको मारने में हिंसा सदृश होती है या असदृश ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि हिंसाका दोष वधककी भावना तीव्र है या मन्द आदि विविध प्रवृत्तियों पर निर्भर है।

हम जब कुछ गहराईमें उतरते हैं, तब हमें यह ठीक ठीक पता चल जाता है कि ऐसे सिद्धांत दुनियामें कैसे चले? एक पुरानी उक्ति है—"जीवो जीवस्य जीवनम्" जीव जीवका जीवन

है। मच्छ गलागलमसे भी यही मतलब निकलता है। जैसे—एक बड़ी मछली छोटी मछलियोंको खा जाती है, वैसे बड़े जीव छोटे जीवोंका भक्ष लेते रहते हैं। मनुष्यको खाना पड़ता है, पीना पड़ता है। इसमें शाक-सब्जी, धान पानी, अग्नि, हवाके जीवोंका वध होता है। इनके योगसे द्वीन्द्रिय आदि बड़े जीवोंकी भी हिंसा होती है। यह उनकी आवश्यकता है, मजबूरी है। ऐसा किये बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्योंमें एक कमजोरी छिपी हुई होती है। वह हर जगह सचाईकी ओर बढ़नेमें रुकावट डालती है। इसीलिए उन्होंने यह एक सिद्धांत स्थापित कर लिया कि जो वस्तुएं उनके जीवन निर्वाहके लिए नितान्त आवश्यक हैं, उनमें हिंसा कैसे ? आज यह सिद्धांत इतना व्यापक है कि साधारण जनकी रग-रगमें यही बात रम रही है कि आवश्यकताकी पूर्ति करनेमें कोई भी हिंसा नहीं। पर असलियत कुछ और है। दुनियां स्वार्थी है, ऐसा किये बिना उससे रहा नहीं जाता, यह दूसरी बात है पर सचाई और कमजोरी एक नहीं, दो चीजें हैं।

बहुतो की सुख सुविधाके लिए थोड़े या क्षुद्र जीवो की हिंसा को क्षम्य माननेवाले प्रजाकी सुख-सुविधाके लिए कियेजानेवाले यज्ञो को धर्म या पुण्य नहीं मानते प्रत्युत उनका विरोध करते हैं। इसका क्या आधार हो सकता है ? हजारों लाखो मनुष्यो की सुख शान्तिके लिए दस बीस पशुओ की बलिका विरोध करते समय क्या वे अपने उक्त सिद्धान्तकी अवहेलना नहीं करते ?

भगवान् महावीरने, महात्मा बुद्धने यज्ञ बलिका विरोध किया। उनके अनुयायी आज भी करते आ रहे हैं। इसका आधार सब भूत समता है, बड़ोंके लिए छोटे जीवोंका संहार नहीं। यदि मनुष्यों की रक्षाके लिए क्षुद्र जीव-जन्तुओं की हिंसाको धर्म पुण्य माननेवाले यज्ञ हिंसाका विरोध करें यह न्याय नहीं हो सकता। जैनों को सोचना चाहिए कि बड़ा के लिए क्षुद्र जीवों की हिंसामें व अल्प पाप और बहुत धर्म मानकर किस दिशाकी ओर जा रहे हैं?

असत्यसे हिंसाका नित्य सम्बन्ध है। परिग्रह हिंसाका मूल है अत इनसे मोह-दयाकी कल्पना करना व्यर्थ है। "जहाँ अहिंसा है वहाँ चोरी भी नहीं रह सकती"। विशुद्ध अहिंसाके प्रयोगमें गांधीजीके इन शब्द जैन दृष्टिकोणसे कोई भेद नहीं रखते।

पारमार्थिक दया

दया अपारमार्थिक नहीं होती, फिर भी मोहात्मक क्रिया, जिसे संसारी प्राणी दया कहते हैं, से वीतराग क्रिया (माध्यस्थ्य पूर्ण दया) को पृथक् करनेके लिए उसके 'पारमार्थिक' विशेषण लगाना उपयुक्त है। आस्तिक भावनामें परम अर्थ आत्म शुद्धि है। आत्मा कर्म आवरणसे मलिन होती है। उस मालिन्यके कारण आत्माके आचार और विचार बुरे बनते हैं। बुरी क्रियासे उसकी अधोगति होती है—भांति भांतिकी यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। धार्मिक दृष्टिकोण यह है कि आत्माके पग न बढ़े, ऐसे उपाय सुझाए जाय। संसारी प्राणी शरीरको ही सब कुछ मानते हैं, आत्माको नहीं। किन्तु समझना चाहिये कि शरीर नश्वर है, वह रहे तो क्या, चला जाये तो क्या, आत्म शुद्धिके बिना धर्मका सम्बन्ध नहीं जुड़ता। क्षणिक यातनाओंको मिटा कर क्षणिक शांति पहुंचाना दया धर्मका रहस्य नहीं, वस्तुवृत्त्या आत्माको पापाचरणसे बचाना ही परम पुरुषार्थ है, परमहित या

परमार्थ दया है। इसलिए कहा गया है कि "पापाचरणाद् आत्म रक्षा दया"। लोक दृष्टि और अध्यात्म दृष्टिका यह बहुत बड़ा अन्तर है। पहलामें शरीरका प्राधान्य है और आत्माका अप्रा धान्य। दूसरामें आत्माका प्राधान्य है और शरीरका अप्राधान्य। शरीर और प्राणो की चिन्तामें व्याकुल होनेवाले व्यक्ति पारमार्थिक दयाके तट पर नहीं पहुच पाते। राग, द्वेष, मोह आदि अगणित कारणो से किये जानेवाले काय, चाहे वह जरूरी हों या न हों हिंसात्मक हैं। आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए भी जो हिंसा होती है, वह हिंसा ही है। पूर्ण हिंसा न छोड़ सके, वह अपनी सामर्थ्यके अनुसार छोड़, वह दूसरी बात है। पर हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। एक व्यक्ति अपराधी एव निरपराध दोनोंको मारनेका त्याग करता है, दूसरा व्यक्ति, जिसमें इतना क्षमता नहीं, सिर्फ निरपराधको मारनेका त्याग करता है। इसमें समझनेका बात यह है कि दूसरे व्यक्तिने निरपराधको मारनेका त्याग किया वह अहिंसा है, किन्तु सापराधको मारनेकी छूट रक्खी, वह अहिंसा नहीं।

अहिंसा और उसके विचारक

अहिंसाकी परिभाषाएं विभिन्न विचारकों द्वारा विभिन्न भाषाओं में की गई हैं, तब भी उनका सार एक है। भगवान महावीरने कहा है—

अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो अर्थात् प्राणीमात्रके प्रति जो संयम है, वही (पूर्ण) अहिंसा है।

सुत्तनिपात धम्मिकसुत्तमें महात्मा बुद्धने कहा है—

'पाणं न हाने न च घातयेय्य
न चानुमञ्ञा हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

अर्थात् त्रस या स्थावर सब जीवोंको न मारे, न मराने और न मारनेवालेका अनुमोदन करे।

विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि'

(यजुर्वेद)

मैं समूचे संसारको मित्रकी दृष्टिसे देखूं।" तत्र अहिंसा सर्वथा सर्वभूतेषु अनभिद्रोह[1] पातञ्जलयोगके भाष्यकार ने बताया है कि सर्व प्रकारसे, सर्वकालों में सर्व प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना, इसका नाम अहिंसा है। गीतामें भी ऐसा ही कहा गया है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तं अहिंसा परमर्षिभिः ॥

अर्थात् मन, वचन तथा कर्मसे सर्वदा किसी भी प्राणीको किसी भी तरहका कष्ट नहीं पहुंचाना, इसीको महर्षियोंने अहिंसा कहा है। महात्माजीने अहिंसाकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अहिंसाके माने सूक्ष्म जन्तुओंसे लेकर मनुष्य तक सभी जीवोंके प्रति सममाव।" 'पूर्ण' अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियोंके प्रति दुर्भावनाका सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहां तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है"।

अहिंसाके पुराने और नये सभी आचार्योंने यही बताया है कि कृत, कारित, अनुमोदित—मनसा वाचा कर्मणा प्राणीमात्रको कष्ट न पहुंचाना ही अहिंसा है। किसी भी आचार्यने अपनी परिभाषामें सूक्ष्म जीवोंको हिंसाकी छूट नहीं दी है और न उनकी हिंसाको अहिंसा बताया है। इस निर्णयके बाद तरह ही जटिल

१ मंगल प्रभात पृष्ठ ८१

२ गांधीवाणी पृष्ठ ३०

समस्या यह रहती है कि ऐसी अहिंसाको पालता हुआ मानव जीवित कैसे रह सके ? इसके समाधानमें भिन्न भिन्न विचार धाराएं चल पड़ी। जैनाचार्योंने इसका उत्तर यह दिया कि पूर्ण संयम किये बिना कोई भी मानव पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। पूर्ण संयमीके सामने मुख्य प्रश्न अहिंसा है। जीवन निर्वाहका प्रश्न उसके लिए गौण होता है। उसे शरीरसे मोह नहीं होता। शरीर उसे तबतक मान्य है, जब तक कि वह अहिंसाका साधन रहे, अन्यथा उसे शरीर-त्याग करनेमें कुछ भी संकोच नहीं होगा, जैसा कि 'आचारांगमें' बताया है कि—"इह संति गया दुविया, णाव कंखंति जीविउं"—संयमी पुरुष अन्य प्राणियोंकी हिंसाके द्वारा अपना जीवन चलाना नहीं चाहते। अपूर्ण संयमी पूर्ण हिंसासे नहीं बच सकता। अतः उसके लिये हिंसाके दो भेद किये गये है—

(१) अर्थ हिंसा (२) अनर्थ हिंसा

अर्थ हिंसा यानी जीवन निर्वाहके लिये होनेवाली अनिवार्य हिंसाको न त्याग सके तो भी अनर्थ हिंसाको अवश्य त्यागे। पर यह नहीं कि अपनी दुर्बलतासे हिंसा करना पड़े, उसे अहिंसा या धर्म समझे।

'मशरूवालाने' भी अहिंसाके विशुद्ध और व्यवहार्य ये दो भेद कर व्यवहार्य अहिंसाकी परिभाषा करते हुए लिखा है—

बुराईसे रहित और भलाईके प्रयाससे युक्त न्याय स्वार्थवृत्ति व्यव

---

* उ—७

हाय अहिंसा ह। यह आदश या शुद्ध अहिंसा नहा ह'

लौकिक दृष्टिकी प्रधानतासे जिस प्रकार जैन तार्किकोंने इन्द्रिय-मानस ज्ञान जो कि वास्तवमें परोक्ष है, को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है, वैसे ही उक्त परिभाषामें लोकप्रियताकी रक्षा करते हुए अर्थ हिंसाको व्यवहार्य अहिंसाका रूप दिया मालूम होता है। क्यों कि लोक दृष्टिमें सब हिंसा या सब स्वार्थदृष्टि बुरी नहीं मानी जाती। समाज जिसको अनैतिक मानता है, वही बुरी मानी जाती है। लोक दृष्टिमें हिंसा नैतिक और अनैतिक कार्यके रूपमें बदल जाती है। सामाजिक न्याय और औचित्यकी सीमा तककी हिंसाको नैतिक कार्यका रूप मिलता है तथा अन्याय और अनौचित्यकी सीमामें हिंसा अनैतिक हो जाती है। उदाहरणके रूपमें—एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यकी हत्या कर रहा है, उस समय वहां एक तीसरा व्यक्ति चला आया उसने आक्रान्ताको समझाया। आक्रान्ताने उसकी बात नहीं मानी, तब वह उस दुबलका पक्ष ले आक्रान्ताके सामने आ गया और उसे (आक्रान्ताको) मार डाला। सामाजिक नीति या व्यवस्थाके अनुसार दुर्बलको बचानेवाला हिंसक नहीं माना जाता। प्रत्युत उसका वैसा करना कर्तव्य समझा जाता है और दुबलकी सहायता न करना अनुचित माना जाता है। धार्मिक सीमा इससे भिन्न है। आक्रान्ताको उपदेश देना धर्मका मान्य है। वह उपदेश न माने, उस स्थितिमें उसे मार डालना धार्मिक मर्यादाके अनुकूल नहीं। उपदेशकका काम है—हिंसककी हिंसा छु ना न

कि हिंसककी हिंसाको मोल लेना—हिंसकके बदले स्वयं हिंसा करना।

सव्वं जगं तु समयाणुपेही
पियमप्पियं कस्सवि नो करेज्जा ।

सर्व जगत्को समान दृष्टिसे देखनेवाला किसीका भी प्रिय एवं अप्रिय न करे, यह अहिंसाका सिद्धान्त है। एक प्राणीकी रक्षाके लिए दूसरे प्राणीको मारना या कष्ट पहुंचाना अहिंसाकी दृष्टिमें क्षम्य नहीं भगवान् महावीरने हिंसा करनेके कारणोंका उल्लेख करते हुए बताया है कि * अप्पेगे हिंसिसु मेत्ति वा वहंति अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति —कितनेक व्यक्ति, इसने मुझे पहले मारा था, इसलिए मारते हैं, कितनेक, यह मुझे मार रहा है इसलिए मारते हैं और कितनेक, यह मुझे मारेगा, इसलिए मारते हैं, यह सब हिंसा है। इसीलिए आचार्य भिक्षुने कहा कि अहिंसाका पालन दूसरको उपदेशके द्वारा समझा बुझाकर करवाया जा सकता है। जबर्दस्ती से हिंसककी हिंसा नहीं छुड़वाई जा सकती।

मुसलमान और गोहत्याकी चर्चाओंका समाधान करते हुए महात्मा गांधीने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे आचार्य भिक्षुके विचारोंसे कुछ भी भिन्नता नहीं रखते। अहिंसाके अन्वेषकोंमें ऐसा सामञ्जस्य होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। महात्मा गांधी लिखते हैं— तब क्या गायको बचानेके लिए मुसलमानोंसे लडूंगा

* आ० ३० ६

और उनको क्या कहूँगा? ऐसा करूँ तो मैं मुसलमान और गाय दोनोंका ही दुश्मन बनूँगा।

(हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७७)

मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाय, तब मुझे क्या करना चाहिए? मैं उसे मार डालूँ या उसके पैर पकड़ कर उससे ऐसा न करनेकी प्रार्थना करूँ? अगर आप कहें कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर अपने मुसलमान भाईके साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।'

(हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७६)

'यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी आदमीको मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एकको बचानेके लिए वह दूसरेकी हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो सिर्फ विनयके साथ समझाने बुझानेमें है।

(हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७६)

इस प्रकार जितने भी विशुद्ध अहिंसाके विचारक हुए हैं, उन्होंने दूसरोंके द्वारा अहिंसा पालन करवानेकी सीमा निरवद्य उपदेशको ही बतलाया है।

दया के दो प्रकार

धार्मिक जगत् दयाके विषयमें जितना भ्रान्त है, सम्भवतः अन्य किसी विषयमें भी उतना भ्रान्त नहीं है। धर्म पर विश्वास न करनेवालोंके लिए तो दया एक मात्र सामाजिक या राष्ट्रीय व्यवस्था है। किन्तु जो धर्म श्रद्धालु हैं उनकी दृष्टिमें दया आत्मसाधनाका अंग है। राग, द्वेष, स्वार्थ मोहरूप क्रिया अहिंसात्मक नहीं होती और जो अहिंसात्मक नहीं होती, वह दया भी नहीं होती। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर आचार्य भिक्षुने 'दया दो प्रकारकी है—व्यावहारिक और पारमार्थिक', इस पर जोर दिया। सामाजिक सम्बन्धों या नागरिक कर्तव्योंके निर्वाह के लिए व्यावहारिक दया है और आत्मकल्याणके लिए पारमार्थिक। नाम एक होनेसे दोनोंका स्वरूप एक नहीं होता।

गाय भैंस आक थोहर नो ए चारा ही दूध

अर्थात् गाय एवं भैंसका दूध भी दूध कहलाता है और आक एवं थोहरका दूध भी दूध कहलाता है। ऐसे ही व्यावहारिक

समाधान किया है—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधि ।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।।

अर्थात् जैन गृहस्थ सब लौकिक विधिको मानते हैं जिसमें सम्यक्त्वकी हानि न हो और व्रतमें दोष न लगता हो।

गृहस्थ नागरिक हैं, अतः उन्हें नागरिक कर्तव्यों का पालन करना ही होता है। सार्वजनिक—लौकिक कार्योंमें धर्म न बताया जाय तो लोग उनमें भाग कैसे लें यह प्रश्न पूर्व शताब्दियों में महत्वपूर्ण रहा होगा। आज तो इसका कोई महत्त्व नहीं। आज कई देशों में शिक्षालय, आतुरालय, जलाशय आदिकी व्यवस्था धर्मके नाम पर धनिकों द्वारा नहीं होती किन्तु राष्ट्रके द्वारा होती है। जीवनके आवश्यक साधनों को सुलभ करना राष्ट्रीय सरकार का प्रथम कर्तव्य होता है। सार्वजनिक कार्योंमें धर्म न माननेवाले राष्ट्रों ने उनका जितना विकास किया है, उतना विकास सार्वजनिक कार्योंमें धर्म माननेवालों से युगान्तरमें भी नहीं हुआ और न होनेकी आशा है। रूसका ही उदाहरण लिजिए—

रूसवासी लोगों में धार्मिक निष्ठा नहीं है, फिर भी शिक्षण, स्वास्थ्य, सेवा भाव आदि कार्योंमें राष्ट्रीय हितकी दृष्टिसे उनकी जैसी निष्ठा है, वह छिपी हुई नहीं। सन् १९१४ से १९४० तक के रूसी परिवर्तनों को जानने वाले यह कभी नहीं कह सकते कि राष्ट्रीय कर्तव्यके नाते सार्वजनिक काम नहीं चलते। पूर्व शताब्दियों में ही चलिए—प्राचीन कालके महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य

ने समाज हितकारी प्रवृत्तियाँ नागरिक-कर्तव्य-समुद्देशमें सम्मिलित की हैं। सम्राट अशोकने भी इन्हें राष्ट्रीय एवं नागरिक व्यवस्था माना है। अशोक शिलालेखों से कुछ उदाहरण देखिए—

१—माता पिताकी सेवा करनी चाहिए विद्यार्थीको आचार्यकी सेवा करनी चाहिए और अपने जाति भाइयोंके प्रति उचित बर्ताव करना चाहिए।

(ब्रह्मगिरि द्वि० शिलालेख)

२—मनुष्य व पशु चिकित्साका प्रबंध करना चाहिए। फलफूल जहाँ न हों वहाँ भिजवाना चाहिए और मार्गोंमें पशुओं व मनुष्योंके आरामके लिए वृक्ष लगवाने व कुएं खुदवाने चाहिए।

(द्वि० शिलालेख)

३—ब्राह्मणोंका आदर और वृद्धोंकी सेवा करनी चाहिए।

(चतुर्थ शिलालेख)

४—उदार दान करना और उन्हें स्वर्ण दान देना चाहिए।

(अष्टम शिलालेख)

५—दासों और सेवकोंके प्रति उचित व्यवहार और गुरुओंका आदर करना चाहिए।

(नवम शिलालेख)

६—अनाथ एवं दुखियोंके प्रति दया करनी चाहिए।

(सप्तम स्तम्भ शिलालेख)

यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहलेके राजाओंने और मैंने भी विविध प्रकारके सुखोंसे लोगोंको सुखी बनाया है। किन्तु मेरे यह

सुलकी व्यवस्था इसलिए की है कि लोग धर्म अनुसार आचरण करें।

(अघ पृष्ट ६६, सप्तम स्तम्भ लेख)

इन शिला लेखों से यह साफ-साफ जाना जाता है कि लोगों के सुखकी व्यवस्था करना राजाओंका कर्तव्य है। इसमें उपकार या धर्मकी दुहाई देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सुखकी व्यवस्था करनेका जो प्रयोजन बतलाया गया है, उसका आशय यह है कि लोग जबतक जीवनकी आवश्यकताओं से मुक्त नहीं होंगे, तब तक वे धर्मके अनुसार आचरण नहीं कर सकेंगे। इसलिए आवश्यक चिन्ताओंको दूर करना राष्ट्रका कर्तव्य है। इसीलिए मैं सुखकी व्यवस्था करता हूं। लोग इन चिन्ताओं से मुक्त होकर धर्मके अनुसार आचरण करें। आचार्य भिक्षुका भी तो दृष्टिकोण यही है कि लोग राष्ट्रीय कर्तव्य या नागरिक धर्म को ही आध्यात्मिकधर्म, आत्मसाधना या मोक्षमार्ग न मानें। मुझे विश्वास है कि इस दृष्टिकोणका विश्लेषणात्मक अध्ययन करनेसे धर्म और राज्यके कार्योंके सम्मिश्रणकी समस्या सुलझ सकती है।

जीवनके दो स्रोत हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। ये दोनों एक-व्यक्ति आश्रित हैं। फिर भी एक नहीं हैं। राग द्वेष-मोहयुक्त विचार या प्रवृत्तियां व्यावहारिक हैं और तद् वियुक्त विचार एवं प्रवृत्तियां आध्यात्मिक हैं। उदाहरणस्वरूप—राज्य व्यवस्था, यातायात-व्यवस्था, चिकित्सा व्यवस्था, सुरक्षा आदि कार्य व्यावहारिक हैं। अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक हैं। लोक व्यवहारमें व्यावहारिक कार्योंका महत्त्व है और आध्यात्मिक

दृष्टिसे आध्यात्मिक कार्योंका महत्त्व है। इस प्रकार दोनोंका कार्यक्षेत्र पृथक् पृथक् माननेसे यथासमय नागरिकों की स्वतन्त्रतामें कोई बाधा नहीं आती। जैसाकि एक पारसीके प्रश्नके उत्तरमें महात्मा गांधीने लिखा है कि "राष्ट्र आपके स्वास्थ्य, यातायात, विदेश सम्बन्धी मुद्रा आदि अनेक बातोंकी देखभाल करेगा, किन्तु मेरे या आपके धर्मकी देखभाल नहीं करेगा। यह प्रत्येक व्यक्तिका निजी मामला है।

विशुद्ध दया एवं लोक व्यवहार्य दया

जिस भावनासे हृदय द्रवित होता है, उसका नाम दया है। दयाकी उत्पत्तिका सम्बन्ध मानसिक विचारोंसे है। इनका सम्बन्ध बाह्य सामग्री है। बाह्यसामग्री—दयनीय वस्तु दुःख आदि के चिन्तनसे या दर्शनसे मानसमें एक प्रकारका विक्षेप होता है, हलचल होती है। यह रागद्वेष रहित होती है, तब अध्यात्मदया और रागद्वेष युक्त होती है, तब लोकदया कहलाती है। दयाके दो भेद नहीं हो सकते, वह तो विशुद्ध ही होती है—ऐसा मानना आग्रहके सिवाय और कुछ नहीं। इस विषयको समझनेके लिए हमें दयाकी ध्यानके साथ तुलना करनी होगी। ध्यानका अर्थ एकाग्र चिन्तन है। एकाग्रचिन्तन मोक्षका साधन है पर सब एकाग्रता मोक्षकी साधन नहीं होती। जीवन निर्वाह कैसे किया जाय, धनार्जन कैसे किया जाय, कुटुम्ब समाज या देशकी व्यवस्था कैसेकी जाय, असहायोंकी व्यवस्था कैसेकी जाय इत्यादि विषयक चिन्तन सांसारिक बंधन है। मोक्षका अर्थ है—सांसा

रिक वासना से छुटकारा पाना। इसी प्रकार दयाके दो भेद होते हैं। उनमें विशुद्ध दया मोक्षका साधन है और व्यवहार्य दया सांसारिक बंधन है।

सांख्य दर्शनमें भी मोहात्मक दयाको सांसारिक बंधन कहा है। जैसे—

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत्'

(सांख्यदर्शन अध्याय ४ सूत्र ७)

अर्थ - "जो मोक्षका साधन नहीं है, लेकिन धर्मका निमित्त साधन वर्णन कर दिया तो उसका जो विचार है, वह केवल बन्धन का ही कारण होगा न कि मोक्षका।" इस प्रकार हम देखते कि अध्यात्म दृष्टिसे दयाके स्वरूप पर विचार करनेवालोंने उसके दो भेद स्वीकार किये हैं। इस पर भी किसीका दयाके दो भेदोंके विषयमें संदेह रहे तो उन्हें यह सोचनेका थोड़ा सा कष्ट उठा लेना चाहिए कि ध्यान शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारका हो सकता है। तब दया दो प्रकारकी क्यों नहीं हो सकती?

विशुद्ध दया एवं लोक व्यवहार्य दया

जिस भावनासे हृदय द्रवित होता है, उसका नाम दया है। दयाकी उत्पत्तिका सम्बन्ध मानसिक विचारों से है। इनका सम्बन्ध बाह्य सामग्री है। बाह्यसामग्री—दयनीय वस्तु दुःख आदि के चिन्तनसे या दर्शनसे मानसमें एक प्रकारका विप्लव होता है, हलचल होती है। वह रागद्वेष रहित होती है, तब अध्यात्मदया और रागद्वेष युक्त होती है, तब लोकदया कहलाती है। दयाके दो भेद नहीं हो सकते, वह तो विशुद्ध ही होती है—ऐसा मानना आग्रहके सिवाय और कुछ नहीं। इस विषयको समझनेके लिए हमें दयाकी ध्यानके साथ तुलना करनी होगी। ध्यानका अर्थ एकाग्र चिन्तन है। एकाग्रचिन्तन मोक्षका साधन है पर सब एकाग्रता मोक्षकी साधन नहीं होती। जीवन निर्वाह कैसे किया जाय, धनार्जन कैसे किया जाय, कुटुम्ब समाज या देशकी व्यवस्था कैसेकी जाय, असहायोंकी व्यवस्था कैसेकी जाय इत्यादि विषयक चिन्तन सांसारिक बंधन है। मोक्षका अर्थ है—सांसा

निक बचना से छुटकारा पाना। इसी प्रकार दयाके दो भेद होते हैं। उनमें विशुद्ध दया मोक्षका साधन है और व्यवहारिक दया सांसारिक बंधन है।

सांख्य दर्शनमें भी मोहात्मक दयाको सांसारिक बंधन कहा है। जैसे—

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत्।

(सांख्यदर्शन अध्याय ४ सूत्र ७)

अर्थ – "जो मोक्षका साधन नहीं है, लेकिन धर्ममें जिनका माधन वर्णन कर दिया तो उसका जो विचार है, वह केवल बन्धन का ही कारण होगा न कि मोक्षका।" इस प्रकार हम दूसरे नि अध्यात्म दृष्टिसे दयाके स्वरूप पर विचार करनेवालोंने उसके दो भेद स्वीकार किये हैं। इस पर भी किसीको दयाके दो भेदोंके विषयमें संदेह रहे तो उन्हें यह सोचनेका थोड़ा सा कष्ट उठा लेना चाहिए कि ध्यान शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारका हो सकता है। तब दया दो प्रकारकी क्यों नहीं हो सकती ?

दया क्या है ?

प्राणी मात्रको अभय देना, न सताना, उत्पीड़ित न करना दया है। अनुकम्पाका विस्तार करते हुए आगममें बताया है कि प्राण भूत-जीव सत्वों की घात न करना, चोट न पहुंचाना, शोक सन्तप्त न करना अनुकम्पा है। इस विषयमें सम्भवतः कोई दो मत नहीं हो सकता। दुःखी प्राणीके दुःखसे माध्यस्थ्यपूर्वक द्रवित होना, हिंसा आदि अनाचारमें प्रवृत्त व्यक्तिको उसके आत्म सुधारकी दृष्टिसे उपदेश देना, प्राणीमात्रके आत्म सुधारकी साधना या चेष्टा करना आदि आदि प्रवृत्तियां अध्यात्म दया है, इसमें भी कोई विवाद नहीं। विवादास्पद विषय यह है कि आवश्यकताओं की पूर्ति करना, जिनके बिना शरीर न टिक सके वैसी आवश्यकताओं को पूरा करना, दूसरे शब्दों में शरीर रक्षा करना, दुःख दूर करना, इच्छापूर्ति करना, दुःख देखकर रागद्वेषपूर्वक द्रवित होना एवं असंयमको क्षेम करना क्या है ? दया है या नहीं ? दया के विषयमें उठनेवाली उक्त शंकाओं का समाधान करते हुए आचार्य

भिक्षुने यही बताया है कि उक्त प्रवृत्तियाँ आध्यात्मिक दया नहीं बनतीं। ये सब संसार नीतिके अनुसार दया कही जाती हैं, इसलिए इन्हें सांसारिक दया मानने पर तत्त्व व्यवस्थामें कोई बाधा नहीं आता। इनमेंसे प्रत्येकका अलग अलग विश्लेषण करने पर हमें यह ज्ञात होगा कि इनमें मोक्षसाधनाके तत्त्व न होकर समाज-व्यवस्था या सांसारिक बन्धनके तत्त्वों की भरमार है।

अब पहले प्रश्न पर ही चलिए—प्राणियों की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न हैं। उनकी पूर्तिके प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं। किसीको धनकी आवश्यकता है, किसीको कुछ तो किसीको कुछ। इस प्रकार भौतिक साधना द्वारा भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करना अध्यात्म दया नहीं। उपाध्याय यशोविजयजीने कहा है—

पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं यान्त्यात्मा पुनरात्मना।
परतृप्ति समारोपो ज्ञानिनस्तन्न युज्यते॥'

अर्थात् पुद्गलों से पुद्गल तृप्त होते हैं, आत्मा आत्मगुणों से तृप्त होती है। पुद्गलों से आत्माकी तृप्ति मानना ज्ञानीके लिए उचित नहीं। अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करनेका प्रश्न भी पहलेसे कोई ज्यादा अन्तर नहीं रखता। शरीरका टिकना कोई धर्म नहीं। इसके उत्तरमें कहा जाता है कि यदि शरीर भी न रहे तो वह धर्म कैसे करे ? पर यह शुष्क तर्क है। शरीर रहने पर भी वह धर्ममें प्रयुक्त होगा या अधर्ममें, यह कौन जाने—भविष्यकी बात है। हमें वर्तमान स्थिति परखनी है। शरीर और प्राणों का मोह नहीं होना चाहिए।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।"

जो जन्मा है वह निश्चय ही मरेगा और मरा है, वह निश्चय ही जन्मेगा। (गीता) इस सिद्धान्तको माननेवाले आस्तिकोंको शरीरसे इतना मोह क्यों? नास्तिक शरीरसे मोह करे, वह क्षम्य हो सकता है, क्योंकि उन्हें फिर ऐसा शरीर मिलनेकी आशा ही नहीं। किन्तु पुनर्जन्म और आत्माकी अमरता पर विश्वास करनेवाले आस्तिक भी यों शरीरमें मोह रखेंगे तो क्या वे सही अर्थमें नास्तिक नहीं हैं? आस्तिककी दृष्टिमें शरीर रक्षाका प्रश्न मुख्य नहीं है।

दयाके नाम पर शरीर रक्षाका प्रश्न इतना जटिल बन गया है कि साधारण व्यक्ति असलियत तक पहुंच नहीं पाते। खैर, जो कुछ हो—शरीर रक्षा आखिर शरीर रक्षा है, आत्म सुधार नहीं। आत्म सुधारकी सम्भावनाके आधार पर शरीर रक्षाको आध्यात्मिक दया नहीं माना जा सकता। दुःख दूर करनेका प्रश्न भी सीधा नहीं है। तत्त्वदृष्टिके अनुसार दुःख कर्मबन्धन है। राटो पानीसे व घटसे नहीं। तात्पर्य यह है कि पौद्गलिक पदार्थोंसे दुःखका आत्यन्तिक उच्छेद नहीं होता। कपिल मुनिने भी कहा है—

* न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्

"अर्थात् मनुष्यके आध्यात्मिक आदि तीन प्रकारके दुःखों की

---

* सांख्य दर्शन प्रथम अध्याय सूत्र २—स्वामी दर्शन मन्त्रालय

"निरतिशय सिद्धि सांसारिक इष्ट पदार्थोंसे नहीं हो सकती। क्योंकि उनमें दुःख निवृत्ति होते ही तत्काल पुनः दुःखकी प्रवृत्ति देखते हैं। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्यको क्षुधारूप दुःख है, उसकी निवृत्ति के लिए दोपहरके १२ बजे ८ छटांक भोजन करता है और सायंकाल ८ बजे दूसरी बार भूख लगती है। उसकी निवृत्तिके लिए फिर ८ छटांक भोजन करता है। ऐसा ही नित्य किया करता है। अब विचारना चाहिए कि क्या उसकी क्षुधा १२ बजेसे ८ बजे तक ८ घण्टेके लिए निवृत्त हो जाती है? कदापि नहीं। क्या उसको सायंकालके ७ बजकर ५९ मिनट तक क्षुधा न थी? अवश्य थी। अच्छा क्या ६ बजे क्षुधा न थी? अवश्य थी। किन्तु इससे पूर्व न थी? नहीं नहीं, कुछ न कुछ अवश्य थी। किन्तु वह ८ छटांक की क्षुधा जो सायंकाल ८ बजे पूरी क्षुधा हुई है, वह चार बजे भी चार छटांककी क्षुधा अवश्य थी और एक बजे दोपहरको भी एक छटांककी क्षुधा अवश्य थी। वह क्रमशः एक एक घण्टेमें एक एक छटांक बढ़ती आई और बढ़ते बढ़ते ठीक आठ बजे पुनः प्रायः पूरी आठ छटांक मांगने लगी। इतना ही नहीं किन्तु एक घण्टाके साठवें भाग एक मिनटमें छटांकका साठवां भाग क्षुधा अवश्य थी। मानो जिस समय तृप्त होकर दोपहरको उठे थे, उसी समय वह पीछाकी क्षुधा साथ-साथ फिरती और बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार अन्य किसी इष्ट पदार्थसे भी दुःख का सर्वथा निवृत्ति नहीं होती।" दुःखको दूर करनेका उपाय त्याग और तपस्या है। इनके द्वारा दुःखके मूलका अत्यन्त उच्छेद

होता है। भगवान् महावीरने अपना साधु जीवन इसी साधनामें बिताया था। दुःखों का आत्यन्तिक विच्छेद करनेका प्रयत्न किया था। पन्यासजी मुनिश्री कल्याण विजयजी गणीने 'भगवान् महावीर और बुद्ध' शीर्षक लेखमें इसका बड़े सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन किया है— 'महावीरका मार्ग लक्ष्य स्वयं अहिंसक बनकर दूसरों को अहिंसक बनानेका था, तब बुद्धकी विचारसरणि दुःखितोंके दुःखोंद्धारकी तरफ झुकी हुई थी।

ऊपर ऊपरसे दोनोंका लक्ष्य एकसा प्रतीत होता था परन्तु वास्तवमें दोनोंके मार्गमें गहरा अन्तर था। महावीर दुःखादुःख की जड़को उखाड़ डालना मुख्य कर्तव्य समझते थे और बुद्ध स्वयं दुःखोंको दूर करना। पहिले निदानको दूर कर सदाके लिए रोगसे छुट्टी पानेका मार्ग बतानेवाले वैद्य थे, तब दूसरे उदीरण रोगकी शान्ति करनेवाले डाक्टर।'[1]

भगवान् महावीरने—

एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण

ज्ञानका सार यही है कि किसीकी हिंसा न करे इस अहिंसाके सिद्धान्तका, दूसरे शब्दोंमें विश्वमैत्रीके सिद्धान्तका ही प्रचार किया था।

'ज्यों त्यों दुःख निवृत्ति करना ही दया है' इस सिद्धान्तका स्वीकार करनेवाले दुःखमोचन सम्प्रदायका तिरस्कार नहीं कर

1 जैन विकास—जून जुलाई आषाढ़ सुदि १० मंगलवार वर्ष ८ अंक ६ ७

सकते। भारतीय विचार परंपरामें दुःखमोचन सम्प्रदायके विचारों ने भी स्थान पाया है। जिसकी दुःखसे छूटनेकी आशा नहीं, वैसे दुःखाक्रान्त रुग्ण प्राणीको मार देना चाहिए। यह उनका मन्तव्य है। महात्मा गांधीके बछड़ेको मरनेवाली विचारधारा करीब-करीब इसी का प्रतिबिम्ब है। भौतिक साधनों द्वारा दूसरे दुःखों को दूर करना ही यदि दया है, तब फिर पीड़ित प्राणीको मारनेमें दया न माननेका कोई कारण नहीं। वस्तुस्थिति के दर्शनमें दुःख दूर करनेके लिए भौतिक साधनों का प्रयोग करना और मारना ये दोनों अध्यात्म दया नहीं है क्योंकि दुःख निवृत्तिके दो अर्थ हैं—या तो पौद्‌गलिक सुखों की प्राप्ति या आत्म-विशुद्धि। पौद्‌गलिक सुखों की भावना राग है। राग युक्त प्रवृत्ति हिंसा है। दूसरा पक्ष आत्म विशुद्धिका है, इसका भौतिक सहायता करने या प्राण वियोग करनेसे कोई सम्बन्ध नहीं। आत्म शुद्धिका सम्बन्ध अपनी अपनी क्रियाओं से है। कष्टावस्थाम भी जो समता पूर्वक रहता है, वह अपनी आत्माको विशुद्ध बनाता है। इसलिए कष्टावस्थासे डरनेकी कोई बात नहीं है। उनका सामना करनेका उचित मार्ग सीखलेना चाहिए और दूसरोंको सिखादेना चाहिए। जिससे स्वपरकी आत्म विशुद्धि हो सके। इस प्रसंगमें एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्योंको तो हम उपदेशके द्वारा समझा सकेंगे पर विवेकशून्य पशुओं के लिए तो यह अनुपयोगी है। अतएव हम निरुपाय होकर यदि मरणप्रद बिलखते पशुओं को—जिनके आगेकी आशा ही नहीं

उन्हें मार डालें तो इसमें हिंसा कैसे हो सकेगी? इसका समाधान एक प्रकारसे तो निकट पंक्तियोंमें आचुका है तो भी यहाँ 'सिद्ध गुरुवृद्ध मर्यादा' के अनुसार लिखना और स्पष्ट करदेना उचित ही होगा कि अहिंसाका स्वरूप एक है। उसमें सम्यक्, असम्यक्, एकदेशता, सर्वदेशता आदिका विकल्प नहीं होता। उसके मार्ग दो ही हैं या तो उपदेश या मौन।

राग द्वेषका स्वरूप

"असंयती जीवको जीवणो बंछे ते राग, मरवो बंछे ते द्वेष, तरवो बंछे ते श्री वीतराग देवको धर्म।" भिक्षु स्वामीने इस त्रिपदी में राग द्वेषके स्वरूपका निरूपण एवं मध्यस्थ भावनासे धर्मका सम्बन्ध दर्शाया है। असंयती वही है जो पूर्ण अहिंसक स्वरूपसे पूर्ण सत्यवादी आदि नहीं। उसके जीनेकी कामना करना और तत्सम्बन्धी खाद्य, पेय, परिधेय आदि साधन जुटाना राग है। प्रश्न यही उठता है कि यदि जीनेकी इच्छा नहीं तो क्या मौतकी इच्छा एवं मौतकी सामग्री जुटानेकी कोशिश करनी चाहिए? इसका उत्तर दूसरा वाक्य दे रहा है—नहीं यह द्वेष है। तो फिर क्या करना चाहिये? इसका समाधान करनेवाला पथ-प्रदर्शनके रूपमें तीसरा वाक्य आगे आता है। यह कहता है दोनों कामनाओं को छोड़कर उसके आत्म-कल्याणकी कामना करो, जिसमें उसका और तुम्हारा दोनों का कल्याण है।

राग और द्वेषकी यह सर्वोत्तम परिभाषा है। असंयती शब्द

के द्वारा इसमें स्पष्ट कर दिया गया है कि जीवित रहने एवं मरने की इच्छा करना कोई राग द्वेष नहीं, किन्तु जो जीवन असंयम सहित है अर्थात् जिसका हिंसा, परिग्रह आदिसे सम्बन्ध रहता है, उसे बनाये रखनेकी जो इच्छा होती है वह राग है और उसको नष्ट करनेकी इच्छा होती है वह द्वेष है। इसके अतिरिक्त संयमी जीवन और मृत्युकी इच्छा करना मध्यस्थ भावना है, अहिंसा है। असंयमी जीवनकी इच्छा करनेके मुख्यतया तीन कारण हो सकते हैं—स्वार्थ, मोह, अज्ञान। या तो असंयमी जीवनकी वह मनुष्य इच्छा करता है, जिसका असंयत पुरुषोंके द्वारा कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्वार्थ सिद्ध होता हो, या उसे वह मनुष्य चाहता है जिसका असंयत व्यक्तियोंसे साथ प्रेम बन्धन हो, या जो व्यक्ति तत्त्वकी गम्भीरता तक नहीं पहुँच सकता, केवल भौतिक सुखोंको सुख मानता है वह असंयमी जीवनको चाहता है। जैसे स्वार्थ और मोह स्पष्टतया राग हैं, वैसे ही यह अज्ञान भी मोहका निबिड रूप है। अतः यह भी राग है। चूंकि जीवित रहना ही धर्म है—यह भ्रांत धारणा मोह वशवर्ती मनुष्यके प्रबल मोहके उदयसे ही होती है। अन्यथा हिंसादिसे सम्बन्धित असंयमी जीवनकी इच्छाको और विविध साधनों से उसके पोषण को एवं उसे भौतिक पदार्थजन्य शांति पहुँचानेको मध्यस्थभावना, अहिंसा माननेका कारण ही क्या हो सकता है? असंयत जीवों के मरनेकी इच्छा करनेका कारण उद्वेग या विरोधी भावना है। यह तो द्वेष है ही। संयमी जीवन और मृत्युकी इच्छा करना

मध्यस्थ भावना है, अहिंसाका अनुमोदन है। उक्त विवेचनसे यह फलित हुआ कि असंयम जीवन और मृत्यु हिंसा युक्त होनेके कारण अभिलषणीय नहीं। संयमी जीवन और मृत्यु अहिंसामय होनेके कारण वांछनीय हैं। संयमी जीवनकी इच्छा केवल इसी लियेकी जानी चाहिये कि मैं संयमकी आराधना करता रहूं और संयमी पुरुषोंकी मृत्युकी वांछा भी इसी ध्येयसे होनी चाहिये कि मैं संयमकी आराधना करता हुआ ही प्राणान्त करूं। संयमी जीवनमें कोई मोह नहीं, केवल संयमके आराधनाकी भावना है। संयमी मृत्युमें कोई उद्वेग नहीं, केवल असंयत अवस्थामें न मरने का लक्ष्य है, अत यह भावनायें राग-द्वेष रहित हैं। इस प्रसंग में हम भिक्षु स्वामी रचित कई पद्योंका अध्ययन कर लेना चाहिये, जिससे यह उलझन सदाके लिये अस्त हो जाय। वाछ मरणा जावणा रा धर्म तणा न ।... या अनुकम्पा किया चका बंध कर्म नो बंध। जीने और मरनेकी इच्छा करनेमें धर्मका अंश भी नहीं। जो मनुष्य यह मोह अनुकम्पा करता है, उसने कर्मोंका बंध पड़ता है याने वह कर्म बन्धकी परम्परासे मुक्त नहीं हो सकता है।

मोह अनुकम्पा जे करे तिणमें रागने द्वेष। भोग बध इन्द्रिया तणो ... देख। मोह अनुकम्पामें राग और द्वेष रहता है और उससे पांच इन्द्रियके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श प्रमुख भोगोंकी वृद्धि होती है, अत वह (मोहानुकम्पा) अहिंसा नहीं। इस तत्वको अन्तर दृष्टिसे देखो याने भौतिक दृष्टिका परदा हटाकर इसे आध्यात्मिक दृष्टिसे परखो। आपणा वछ तो ही

दापो, परनो कुम घाल सतापो। मरणो जीवणो वछ प्राना, राम भाव राख सुभानो।" अपने ही असंयम जीवनकी वांछा करना पाप है तो दूसरेके असंयम जीवनकी वांछासे कौन सत्तापको मोल ले? अज्ञानी जीव मरना और जीना वांछते और शुद्ध जी जीव समभाव रखते हैं। पोत बच्यो मरवा थकी दूजा कियो हो तिण रै जीवण रो उपाय। तीजो तिण भलो जाण जीवियो या तीनांमें हो सिद्ध गति कुण जाय ॥२२॥ दूजा रह्या तिण रै अव्रत घटी नहीं, सो दूजान हो तुम जाणज्यो एम। भलो जाण्या तिण रै व्रत न नीपनो ए तीनों ही हो सिद्धगति जासी केम ॥२३॥' जीवियां जिवायां भलो जाणियां ये सार्वो ही हो करम सरीखा जाण। कोई चतुर होसी ते समझसी भ्रम मसरया परसी हा तांणा तांण ॥२४॥

एक जीव अपनेको मृत्युसे स्वयं बचाता है, एक उसे जीवित रखनेका उपाय करता है और एक उस कार्यको अच्छा समझता है, इन तीनोंमें सिद्ध गति कौन सा जायगा? एक मनुष्यने अपनेको मृत्युसे बचा लिया किसी दूसरेने उसको सहयोग दिया एवं किसी तीसरे व्यक्तिने उसे अच्छा समझा। इन तीनोंमें मोक्ष कौनसा जायगा? क्योंकि इन तीनोंमेंसे किसीके भी अविरति नहीं घटी और विरतिके बिना मोक्षका साधना नहीं हो सकती। इसका फलितार्थ यह है कि मोक्षका साधन विरति (आशा वांछा का संयम करना) है। जीवित रहना न तो विरति है और न कोई अहिंसात्मक प्रवृत्ति ही है। अतएव वह धर्म या अहिंसा नहीं है। करना, करवाना और अनुमोदन करना यह तीनों एक

कोटिमें है जबकि अविरति युक्त जीवितव्य अहिंसा नहीं तब उसे जीवित रखनेमें सहयोग देना और उसका अनुमोदन करना अहिंसात्मक कैसे हो सकता है? ॥ काया री वंछै मरणो जीवणो ते तो रहसी संसार मझार। ज्ञान दर्शन चारित्र तप भलो आदरियां पाया खेवो पार ॥२५॥ प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हुए आचार्यवर फरमाते हैं— जो जीव मरनेकी वांछा करता है वह संसारमें पर्यटन करेगा और जो श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन चारित्र और तपका पालन करता है और दूसरोंसे उनका पालन करवाता है वह परम पद याने मोक्षको प्राप्त करता है।

पूर्वोक्त विवेचनसे यह मान लिया जाय कि रागसे जो काम किया जाता है वह अहिंसात्मक नहीं, तो भी यह नियम परिचित व्यक्तियों पर ही लागू हो सकता है सब जगह नहीं। जो अपरिचित व्यक्ति है जिसे न तो हम जानते हैं और न वह हम जानता है, उस अपरिचित असहायके हम भौतिक पदार्थों द्वारा सहायक बनें इसमें राग कैसे हो सकता है? इसका उत्तर द्वेषपर दृष्टिपात करते ही हो जाता है। किसी एक अपरिचित विद्वानकी विद्वता पर असहिष्णुता आ जाती है। किसी एक अज्ञात धनाके साथ ईर्ष्या हो जाती है। किसी एक अज्ञात व्यक्तिके सौंदर्य को देखकर जलन पैदा हो जाती है क्या यह द्वेष नहीं? यदि है तो अपरिचितसे द्वेष कैसे हो सका, जबकि राग नहीं हो सकता है? वास्तवमें राग द्वेषका परिचित एवं अपरिचितसे सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जो जबतक आत्मामें अस्तित्व रहता है तब

तत्त्व वे अपने अपने कारणोंके द्वारा प्रकट होते हैं। साहित्यक ग्रन्थोंका अध्ययन करनेवाले भलीभांति जानते हैं कि अवीतराग पुरुषों के सामने जिस प्रकारकी सामग्री आती है, उसके अनुकूल भाव बनकर वैसा ही रस बन जाता है। शृंगारको उद्दीपन करनेवाली सामग्रीसे शृंगार रस, करुणोद्दीपक सामग्रीसे करुणा एवं यथोचित सामग्रीसे हास्य, बीभत्स आदि सब रस बनते हैं। इसी प्रकार राग द्वेषोद्दीपक सामग्रीसे राग द्वेषका प्रादुर्भाव होता है। प्राय दुखियारी दशाको देखकर स्नेह और अनुचित व्यवहारको देखकर द्वेष उत्पन्न हो जाता है। राग अनादि कालीन बन्धन है, उसका अमित प्राणियोंसे सम्बन्ध है। भौतिक जीवन को पोषण करनेकी भावना उस बन्धनका ही फल है। प्रत्यक्षमें हमें राग न भी मालूम देता हो पर अप्रत्यक्षमें वह सक्रिय रहता है और वही बाह्य क्रियाका जनक है। एक संस्कृत कविने स्नेह की परिभाषा यही की है— दर्शन स्पर्शनवापि भाषण श्रवणमपिवा। यद् द्रवत्यन्तरङ्ग स स्नेह इति कथ्यते। अर्थात् देखनेसे, छूने से, बातचीत करनेसे, सुननेसे जो हृदय द्रवित हो जाता है, उसे स्नेह कहते हैं।

निष्काम कर्म और अहिंसा

अहिंसाके सम्बन्धमें निष्काम कर्म एक व्यामोहक वस्तु बन रहा है। कितनेक व्यक्तियोंका ख्याल है कि फलप्राप्तिकी आशा रखे बिना हम जो कोई काम करते हैं वह अहिंसा ही है। पर सच तो यह कि चाहे कर्म निष्काम—फलप्राप्तिकी इच्छा रहित हो, चाहे सकाम फल प्राप्तिकी इच्छा सहित, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें हिंसा छिपी हुई रहती है वह काम हिंसात्मक ही है। यह क्या कोई युक्तिकी बात है कि मनुष्य अपनी सुविधाके लिये जो कोई भी हिंसायुक्त काम करता है वह तो हिंसात्मक मान लिया जाता है और वही काम वही मनुष्य दूसरोंकी सुविधाके लिये कर देता है वह अहिंसात्मक हो जाता है। हिंसात्मक काम हिंसात्मक ही रहेगा, चाहे अपने लिये किया जाय चाहे दूसरेके लिये। यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यक्तिगत कार्योंमें स्वार्थ रहता है और समष्टिमें स्वार्थ नहीं रहता है। खैर दो क्षण के लिये उसे स्वार्थ न भी मानें अर्थात् लौकिक दृष्टिसे परमार्थ

मारडाळ तो भी इसका हल नहीं निकलता। क्योंकि हिंसाका सम्बन्ध केवल स्वार्थसे ही तो नहीं, उससे राग द्वेष, मोह, व्यामह आदि अनेक भावनाओं का सम्बन्ध रहता है। व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग कर अपने राष्ट्रको शक्तिका अनुकूल बनानेके लिये, इस समय यह उचित है कि निकम्मे लड़के जन्मते हैं जन्मसे आये बच्चे मरवा दिये जाय। राष्ट्रके सुधारकी ऐसी भावनासे यह ऐसा करनेमें सफल भी हो जाता है। राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे यह कार्य न तो रागसे किया जाता है और न द्वेषसे एवं न व्यक्तिगत स्वार्थ से, यह केवल राष्ट्रको सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित करनेके लिये ही किया जाता है। इसलिये यह सब निष्काम सेवाकी परिधिमें आजाता है। इस प्रकार और भी अनेक कार्य हैं जो कि समष्टि की सुविधाओं के लिये किये जाते हैं और उन्हें निष्कामिताकी सीमामें घुसेड़कर अहिंसात्मक बतलाया जाता है। पर जिन कार्योंमें प्रत्यक्ष रूपसे हिंसा एवं हिंसाके कारण विद्यमान हैं व काम न तो निष्कामिताकी कोटिमें समाविष्ट किए जा सकते हैं और न अहिंसाकी कोटिमें। जैन सिद्धान्तमें भी निष्कामिताका विधान है, पर है वह धार्मिक क्रियाके सम्बन्धमें। धार्मिक क्रियाका जितना उपदेश है, उसके साथ साथ यह बताया गया है कि धर्म केवल आत्मशुद्धिके लिये करो। ऐहिक या पारलौकिक पौद्गलिक सुखोंकी प्राप्तिके लिए नहीं। धार्मिक क्रियाके साथ पौद्गलिक सुखोंकी इच्छा करना 'निदान' नामका दोष है। इस सम्बन्धमें यह एक खास ध्यान देनेकी

बात है कि प्रत्यक्ष या परोक्षमें राग, द्वेष, स्वार्थ—आदि भावनाओं से मिश्रित जितने भी काम हैं उनको अधिक आसक्ति और कम आसक्तिसे किये जानेसे उनसे होनेवाले बन्धनमें अन्तर अवश्य आ जाता है। पर वे बन्धनसे मुक्त करनेवाले नहीं हो सकते। जैसे एक हिंसात्मक कामको दो व्यक्ति करते हैं। एक उसे अधिक आसक्तिसे करता है और दूसरा उसे कम आसक्तिसे। अधिक आसक्तिसे करनेवालेके कर्मका बन्धन दृढ़ होता है और कम आसक्तिसे करनेवालेके शिथिल, पर यह नहीं हो सकता कि कम आसक्तिसे हम जो कुछ भी करते हैं उसमें कर्मका बन्धन होता ही नहीं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर यह निर्णय होता है कि जो काम हम करते हैं वह यदि पूर्वोक्त भावनाओं से मिश्रित है तो उसमें आसक्ति रहेगी ही – चाहे अधिक मात्रामें, चाहे कम मात्रामें चाहे व्यक्त रूपमें, चाहे अव्यक्त रूपमें। अधिक आसक्ति वाला जहाँ भावनासे लिप्त रहता है और वह उसमें मुड़ना भी नहीं चाहता किन्तु कम आसक्तिवाला यह समझता है कि मैं जो कुछ भौतिक सुखवर्धक काम करता हूँ वह मुझे करना पड़ता है, चूंकि मैं अभी तक बन्धनसे छुटकारा नहीं पा सका हूँ। इसका तत्व यही है कि जो काम असंयमको पुष्ट करनेवाला अर्थात भोगी जीवनका सहायक है, वह चाहे कैसी भी भावना से क्यों न किया जाये उसमें हिंसा तो रहेगी ही। भोगी जीवनका अर्थ सिर्फ अब्रह्मचारी जीवन ही नहीं। जो मनुष्य अपने शरीरको सुख देनेके लिये या उसे टिकाये रखनेके

लिये कोई प्रकारकी भी हिंसा करता है, उसका जीवन मानो जीवन कहलाता है। अतः यह निश्चित रूपसे जान लेना चाहिये कि निष्कामिताका सम्बन्ध अहिंसात्मक कार्योंसे ही है। हिंसात्मक कार्योंमें निष्कामिताका प्रयोग नहीं हो सकता। निष्कामिता अहिंसाकी उपासना करनेका साधन है। अहिंसाका अनुशीलन किसी प्रकारके भौतिक सुखोंके फलकी आशा रखे बिना ही करना चाहिये। यही निष्कामिताका सच्चा प्रयोग है।

अहिंसाके फलितार्थ

१—अहिंसाका अर्थ प्राणोंका विच्छेद न करना इतना ही नहीं, उसका अर्थ है—मानसिक, वाचिक, एवं कायिक प्रवृत्तियों को शुद्ध रखना।

२—केवल जीवोंका बच जाना ही अहिंसा नहीं, चूंकि बलात्कारसे प्रतिहिंसा जागरूक हो जाती है और परिग्रहसे, असत्यसे हिंसाका अविनाभाव—नित्य सम्बन्ध है।

३—केवल जीवोंका प्राण वियोग होना ही हिंसा नहीं। राग द्वेषयुक्त प्रवृत्तिसे जो प्राणोंका वियोजन होता है, वही हिंसा है, चाहे वह अपना हो चाहे किसी दूसरेका।

४—जिसकी हिंसा की जाती है उसे कष्ट होता है इसलिये ही हिंसा सदोष नहीं। हिंसासे आत्माकी मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति दूषित होती है अतएव वह सदोष है।

५ हिंसा अहिंसाका सम्बन्ध वास्तवमें अपनी आत्माकी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे है। निवृत्ति केवल अहिंसा है।

प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है। उनमें जो राग द्वेष रहित होती है वह अहिंसा और जो रागद्वेष सहित होती है, वह हिंसा है। दूसरे सजीव या निर्जीव पदार्थ केवल अहिंसाके निमित्त मात्र बनते हैं। इसके आधार पर ही हिंसाके द्रव्य भाव रूप भेद किये गये हैं। द्रव्य हिंसाका अर्थ है केवल प्राणों का वियोग होना। भाव हिंसाका अर्थ है आत्माके अशुभ परिणाम यानी राग द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति।

६—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसाके उदाहरण निम्न प्रकारसे हैं। एक शिकारी हरिणको मारता है, इसमें द्रव्य हिंसा भी है और भाव हिंसा भी। सावधानी पूर्वक चलने फिरने आदि अनेक क्रियायें करते हुए संयमी पुरुषोंके द्वारा जो कोई अशक्य परिहार कोटिका प्राणि वध हो जाता है, वह द्रव्य हिंसा और भाव अहिंसा है चूंकि उन्होंने राग द्वेषात्मक प्रवृत्तियों का संयम किया है। कोई मनुष्य धुंधले प्रकाशमें रस्सीको सांप समझकर टुकड़े २ कर डालता है, वह द्रव्य अहिंसा और भाव हिंसा है। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा इन दोनोंका परिहार मोक्ष प्राप्ति निकटवर्ती अवस्थाके पहले असंभव है। हिंसाके उपर्युक्त चार विकल्पों से यह फलित होता है कि अहिंसात्मक प्रवृत्तिसे युक्त संयमी पुरुषों के द्वारा राग द्वेष प्रमादात्मक प्रवृत्ति के बिना ही दैहिक चञ्चलताको अनिवार्यताके कारण जो कोई प्राणी वध हो जाता है वह वास्तवमें हिंसा नहीं है। चूंकि हिंसा की परिभाषामें प्राण वियोजनका स्थान व्यावहारिक है। राग-

द्वेष युक्त भावनाका स्थान नैश्चयिक है। हिंसक वही कहा जा सकता है जो रागादि दोष सहित प्रवृत्तिसे प्राणोंका विच्छेद करता है या कष्टमात्र पहुचाता है या निर्जीव पदार्थों पर भी अपनी प्रमादात्मक प्रवृत्ति करता है। जहां प्राणियोंकी घात होती है, वहां राग द्वेषरहित भावना कैसे हो सकती है? इस प्रश्नका निर्णय हमें यों कर लेना चाहिये कि उन संयमी (जिसने मन, वचन एवं शरीरका संयम किया है, त्रस स्थावर सब प्रकारके जीवोंकी हिंसा करनेका परित्याग किया है जो अपने खाने पीनेके लिये भी हिंसा नहीं करता है, प्राणी मात्रको मित्र समझता है, एवं सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं निष्परिग्रह व्रतका पालता है— वह पुरुष संयमी कहलाता है) पुरुषोंकी न तो जीव हिंसाकी भावना ही है और न वे इस प्रकारकी क्रिया ही करते हैं, तथापि देहधारी होनेके कारण उनके द्वारा जो कोइ हिंसा हो जाती है वहां उनकी भावनाका रागद्वेषसे कोइ सम्बन्ध नहीं है। प्रश्न—उक्त निर्णयसे एक नई और जटिल समस्या पैदा होती है, वह यह है कि इस सिद्धान्तसे हरेक मनुष्य भी हिंसा करता हुआ अपनेको अहिंसक कहनेका साहस कर सकेगा। क्योंकि उसके पास 'मेरी भावना शुद्ध है'—यह एक अमोघ साधन आ जाता है। उत्तर—उक्त निर्णय प्राणी मात्रके लिये चरितार्थ नहीं, वह केवल संयमी पुरुषों पर ही लागू होता है, वे अहिंसाके उपासक हैं, उनका एक मात्र ध्येय अहिंसा है। वे हिंसासे सर्वथा पराङ्मुख रहते हैं। इनसे भिन्न कक्षावाले जो असंयमी पुरुष हैं, उनके लिये उपर्युक्त निर्णय उपयुक्त नहीं।

क्यों कि न उनके मन, वचन एवं शरीर संयत हैं और न हिंसक प्रवृत्तियों से सर्वथा विमुख रहनेका उन्होंने निश्चय ही किया है। वह हिंसामें जुटे हुए हैं। अतएव उनके द्वारा जो प्राणीवध होता है या किया जाता है वह हिंसा ही है, अहिंसा नहीं।

प्रश्न – संयमी पुरुषोंके लिये जो विधान किया गया है, क्या उससे उनमें शिथिलता आनेकी सम्भावना नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्यो कि संयमी पुरुष भी असावधानीसे जो कुछ करते हैं वह सब हिंसा है। इस दृष्टिसे वे और अधिक साव-धान रहते हैं। अहिंसक होकर भी हम कहीं हिंसक न बन जावें इसका उन्हें हर समय ख्याल रहता है। सहज ही एक प्रश्न हो सकता है कि संयमी जन भी सब वीतराग नहीं होते हैं तो फिर उनकी भावना राग रहित कैसे मानी जा सकेगी। इसका उत्तर—

सतोऽपिय कषायान निगृह्णाति सोऽपितत्तुल्य ' ह। अर्थात्—कषाय सहित होते हुए भी कषायका निग्रह करके संयत प्रवृत्तियोंसे अहिं-सक बन सकते हैं।

७—अहिंसाका सम्बन्ध जीवित रहनेसे नहीं, उसका सम्बन्ध तो दुष्प्रवृत्तिकी निवृत्तिसे है। निवृत्ति एकान्त रूपसे अहिंसा है। यह तो निर्विवाद विषय है। पर राग, द्वेष, मोह, प्रमाद आदि दोषों से रहित प्रवृत्ति भी अहिंसात्मक है। जैसे दशवैकालिकमें प्रसंगायात एक वर्णन है। शिष्य —"प्रभो! (कृपाकर आप मुझे बताओ कैसे चलें, किस तरह खड़े हों, किस तरह बैठें, किस प्रकार लेटें, कैसे खावें और किस तरह बोलें जिससे पाप कर्म

का बन्धन न हो। गुरु—"आयुष्मन्! यत्ना पूर्वक चलनेसे, यत्ना पूर्वक खड़े होनेसे, यत्ना पूर्वक बैठनेसे, यत्ना पूर्वक लोटनेसे, यत्ना पूर्वक भोजन करनेसे, यत्ना पूर्वक बोलनेसे पाप बन्ध नहीं होता। यत्ना का अर्थ है—सावधानी पूर्वक। सारांश यह है कि त्यागी पुरुषों की खाने, पीने, चलने, फिरने, उठने, बैठने आदि जीवनकी क्रियाए जो अहिंसा पालनकी दृष्टिसे सजगतया की जाती हैं, वे सब अहिंसात्मक ही हैं।

८—अहिंसा त्यागमें है, भोगमें नहीं। अहिंसा आत्माका गुण है। अहिंसासे हमारा कल्याण इसीलिये होता है कि वह हमें हिंसाके पापसे बचाती है। और हमारा कल्याण यही है कि हम हमारी असत् प्रवृत्तिके द्वारा किसीको भी कष्ट नहीं पहुचाते हैं और न मारते हैं। हम नहीं मारते हैं वह अहिंसा है। किन्तु हमारी अहिंसात्मक प्रवृत्तिके द्वारा जो जीव जीवित रहते हैं वह अहिंसा नहीं।

चोर चोरी नहीं करता है वह उसका गुण है किन्तु चोरके चोरी न करनेसे जो धन सुरक्षित रहता है वह उसका गुण नहीं। एक पुरुष अपनी आशाको सीमित करता है अथवा उपवास करता है, उसे उपवास करनेका लाभ होता है। परन्तु उसके उपवास करनेसे जो खाद्य पदार्थ बचे रहते हैं उनसे उसको कोई आत्मशुद्धि नहीं।

अहिंसा जीवनमें कैसे उतरे ?

मनुष्योंमें दो तरहका बल होता है। आध्यात्मिक और शारीरिक। अहिंसामें आध्यात्मिक बलका प्राधान्य है। यह अनेक प्रकारसे जीवनमें उतारा जा सकता है। धैर्य, क्षमा, गांभीर्य, योग, तप, संयम आदि अनेक सद्आचरण अहिंसाके ही रूप हैं। धैर्य चित्त वृत्तियोंका संयम करना, कष्टोंके आ पड़ने पर उन्हें समभावसे सहना, हाय हाय, त्राहि त्राहि न करना, अपने कृत कर्मोंका फल समझकर यों विचार करना कि मैं वही भोग रहा हूं जिसका मैंने पहले संचय किया है, जो कर्म मैंने हंसते हंसते उपार्जित किये हैं उनका फल भोगनेके समयमें क्यों रोऊं, क्यों दीन बनूं, क्यों किसीको दोष दूं। इस प्रकारकी भावनासे जो व्यक्ति आपत्तियोंका, रोगोंका एवं भांति भांतिके कष्टोंका सामना करता है वह अहिंसा है। धैर्य अहिंसात्मक बल है। जो इस बलसे बलवान् है वह किसी तरह भी सत्यपथसे विचलित नहीं हो सकता, न उसे कष्टोंका भय ही होता है। यह

कष्टोंके पहाड़ोंको चूर चूर कर आगे बढ़ सकता है एवं अपने लक्ष्य तक पहुच सकता है। क्षमा—दूसरा गाली दे तो भी मनमें क्षोभ न करना, सद्भावना पूर्वक विचारका सदुपयोग करना। यथा आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थ गवेषणे मति कार्या। यदि सत्य क कोप स्यादनृत किनु कोपेन।' क्षमा शील मनुष्यको गाली, आक्रोशक एव कटु वचन भी सुनकर सत्यका अन्वेषण करना चाहिए, क्रोध नहीं।

जैसे—यह मुझे गाली दे रहा है, यदि वास्तवमें मेरा दोष है तो मैं इस पर क्रोध क्यों करू। (मुझे उस दोषको छोड़देना चाहिये) और यदि मैं निर्दोष हू तो ये गालियां मुझपर लागु ही नहीं होती हैं। तो फिर मैं क्रोध करू ही क्यों। तथा गाली देना किसीको कष्ट पहुचाना, जानसे मारना, धर्मसे भ्रष्ट करना यह सब मूर्खोंका काम है। धीर पुरुष इनसे उत्तरोत्तर अलग रहनेमें ही अधिक लाभ मानते हैं। गाम्भीर्य-चमत्कारक अनुष्ठान करके भी अहंकार न करना, आत्म प्रशंसा न करना अहन्द भावनाको त्यागना। योगका अर्थ है मानसिक, वाचिक एव कायिक प्रवृत्ति, मनको सरल रखना, माया ईर्ष्या आदि अवगुणो से दूर रखना, वचन और कायाकी पाप रहित प्रवृत्ति करना। तपस्याका अर्थ है—उपवास करना अपनी इच्छासे कम खाना, अपने शरीरको ही कष्ट देना, स्वाध्याय करना, मनन करना, चिन्तन करना आदि आदि। सयम आत्मवृत्तियोंका सकोच करना, क्रोध, अभिमान, माया, लोभका आत्म भावनासे निरोध करना, इत्यादि अनेक

प्रकारसे जीवनमें अहिंसाका अवतार किया जा सकता है। अहिंसाकी उपासना किसी निर्धारित एवं नियमित समयमें ही की जा सकती है, यह बात नहीं। अहिंसा प्रतिक्षण उपास्य है। अहिंसाका आचरण पल-पलमें उपयोगी है। अहिंसक मुनियोंके लिये तो अहिंसा अनिवार्य है ही पर गृहस्थों को भी प्रतिपल यही विचारना चाहिये कि हम हिंसक प्रवृत्तियोंमें फंसे हुए भी हिंसासे जितना बच सके उतना बचें। यदि अर्थ हिंसा अर्थात् जो प्रयोजन से की जाती है उसे न भी त्याग सके तो भी अनर्थ हिंसासे विलग रहनेका अभ्यास करे। क्यों कि जिस हिंसासे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है वह हिंसा लौकिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियोंसे वर्जनीय है, यद्यपि अर्थको सिद्ध करनेवाली हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती, तो भी वह अर्थ—हिंसा है। अशक्यता के कारण उसका सर्वथा परिहार दुष्कर है तो भी क्रमशः उससे भी निवृत्त रहना नितान्त आवश्यक है। अपनी पारिवारिक सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित रखनेका गृहवासियोंके लिये व्यापार आदि अनेक काम अनिवार्यसे हैं। उन कार्यों में होनेवाली हिंसा अर्थ हिंसा कहलाती है। पर प्रयोजनकी यथेष्ट सिद्धिके लिये भी अन्याय और अत्याचारों की चरम सीमा पर नहीं पहुंच जाना चाहिये। आधुनिक जन समूहका एक मात्र दृष्टिकोण आर्थिक संचय पर टिका हुआ है। आज एक मात्र आर्थिक स्थिति ही सभ्यताका मान दण्ड बनी हुई है। आर्थिक संचयके भयंकर परिणाम स्वरूप हिंसाका वातावरण इतना दुर्भेद्य और जटिल बन गया है कि

अहिंसाके लिये एक छोटेसे छोटा दृष्टिकोण भी सुरक्षित नहीं है। चारों ओर एक ही ध्वनि और एक ही मनोवृत्ति है कि जिसकी आर्थिक शक्ति सुदृढ़ नहीं है वह आधुनिक जगतमें अपना कोई भी स्थान नहीं रख सकता। इस दशामें कैसे कोई सतोषी बने और कैसे अहिंसाका उपासक भी ? पर इस अर्थ संग्रहकी राक्षसी वृत्तिका दुष्परिणाम आज सारा संसार भोग रहा है। क्योंकि प्राधान्यत अर्थसंचयकी लोलुपता ही सबका कारण सिद्ध हो चुकी है। अतएव अब हिंसाकी भी इयत्ता आवश्यक है। इयत्ता के बिना कोई शृंखला नहीं जुड़ सकती और शृंखलाके बिना उच्छृंखल वृत्तिका नाश नहीं हो सकता। जो पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता उसके लिये इयत्ता पूर्ण उपयोगी पदार्थ है। यह अहिंसा और हिंसाकी विभाजिक भित्ति है, इससे हिंसक वृत्तियों का संयमन हो जाता है। अहिंसा 'क' हिंसा 'ख'। क का अर्थ है कि इतने प्रकारकी हिंसा नहीं करूंगा। 'ख' का अर्थ है जितनी सीमायें है उस परिधिसे परेके काम हिंसात्मक हैं। हिंसक प्रवृत्ति यों को और अहिंसक प्रवृत्तियोंको अलग अलग समझना एव हिंसाका त्याग और अहिंसाकी उपासना करना जीवनकी सर्वोच्च उन्नति या विकास है।

धर्म और समाज

धर्म और समाज ये मानो भिन्न भिन्न परम्पराएं हैं। हम यह नहीं मान सकते कि धर्म समाजसे सर्वथा पृथक् या सर्वथा अपृथक् है। धार्मिक एवं सामाजिक दोनों प्रकारके विचार या नियम समाजके ही आश्रित होते हैं। पर उनके उद्देश्य और स्वरूप एक नहीं होते। धार्मिक नियमोंका मुख्य उद्देश्य आत्म साधन होता है। इस दशामें सामाजिक नियमोंका उद्देश्य होता है, समाजकी व्यवस्था बनाये रखना—सामूहिक जीवनको सुविधा पूर्वक निभाना। धार्मिक नियम व्यक्तिनिष्ठ होते हैं और सामाजिक नियम समूहनिष्ठ। धर्मके मौलिक नियमोंमें देश, काल एवं परिस्थितियोंकी विविधताओंमें भी परिवर्तन सम्भव नहीं और समाजके नियमोंमें यथा समय यथोचित परिवर्तन केवल सम्भव ही नहीं किन्तु होते ही हैं। समाजकी कई सद् व्यवस्थाएं धर्मकी निकटतम भूमिकाएं होती हैं और धर्मके भी कई नियम समाजके पोषक एवं धारक बनते हैं। धर्मके सब नियम समाजके

पर समाजके सब नियम धर्मके अनुकूल ही हों, यह कभी नहीं होता। क्योंकि दोनों व्यवस्थाओंके उद्‌गम-स्रोत पृथक् होते हैं। भगवान् महावीरके उपदेशों में धर्म पर किसी समाज विशेषका कोई प्रतिबन्ध लगा हुआ नहीं मिलता। प्रत्येक व्यक्ति चाहे व किसी भी समाजके सदस्य हो, इच्छानुकूल सामाजिक परम्पराओं का पालन करनेवाले हो, धर्माचरणके अधिकारी हैं। वास्तवमें ऐसा ही होना चाहिए क्योंकि धर्म जन्मगत या जातिगत नहीं किन्तु आत्मगत होता है। एक मुसलमान या ईसाई जैन धर्मका पालन करना चाहे तो क्या नहीं कर सकता? अन्यान्य समाज-प्रथाओंके अनुगामी क्या एक धर्मके अनुयायी नहीं हो सकते? यदि हो सकते हैं, तब धर्म और समाज सर्वथा एक कैसे माने जा सकते हैं? हमारी धारणा यह है कि यदि सामाजिक नियमोंका निर्माण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह तथा क्षमा शांति, निरहङ्कारता आदि धर्मके मौलिक नियमोंकी भित्ति पर किया जाय तो समाज अवश्य ही धर्मको अधिकसे अधिक अपना सकता है—उसको अनुकूल दिशामें प्रगति कर सकता है। धर्मका धरातल सामाजिकतासे ऊंचा है। इसलिए हमें समाजके प्रत्येक कार्यमें न तो धर्मकी अनिवार्यता घोषित करनेकी आवश्यकता है और न उसका सर्वथा बहिष्कार ही करना है। किन्तु समाजको सद्व्यवस्थाके द्वारा धर्मके निकट पहुंचाना है और धर्मके द्वारा सामाजिक बुराइयोंका अन्त करना है। समाजमें अपने अपने स्वार्थ और हितोंको पुष्ट बांधी जाती हैं अतएव एक समाज दूसरे

समाजके अहितका साधन भी बन सकता है। धर्ममें यह बात नहीं होती। उसमें सबका हित ही होता है। हित चाहे सामूहिक हो चाहे व्यक्तिगत, अहित किसीका भी नहीं होता।

समाज शासन हिंसात्मक दण्ड विधिको अपना आवश्यक अंग मानता है। आततायीके प्रति आक्रमण करनेका विधान किया है। धर्मशास्त्रमें इसके लिये कोई स्थान नहीं। उसका दण्ड-विधान अहिंसात्मक है। इसलिये समाजके सब विधि विधानों का धर्मसे अनुमोदन नहीं हो सकता। गुरुदास बैनर्जीने इस बातको बड़े मार्मिक शब्दोंमें समझाया है—

* जानसे मार डालनेके लिये उद्यत आततायीको प्राण रक्षाके लिए मार डालना प्रायः सभी देशोंकी सब समयकी दण्डविधि द्वारा अनुमोदित है। मनु भगवान्‌ने भी कहा है—

'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन'

अर्थात् आततायीको मार डालनेमें मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता।

भारतकी वर्तमान दण्ड विधि भी यही बात कहती है। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड विधिका मूल उद्देश्य समाजकी रक्षा करना है, नीति शिक्षा देना नहीं है। अतएव दण्ड विधिकी बात सब जगह सुनीतिके द्वारा नहीं भी अनुमोदित हो सकती है।

इस प्रकार धर्म और समाजका भिन्न भिन्न समन्वय ही हमारी दृष्टिका विषय है।

---

*ज्ञान और कर्म पृष्ठ २१२।

भावद्य अनुकम्पा है—भगवान् महावीरने गोशालकको बचाया, वहां टीकाकार श्री अभयदेव सूरीने लिखा है कि भगवानने यह कार्य शुद्ध स्नेहयुक्त अनुकम्पासे किया इस प्रकार शास्त्रों में दोनों प्रकारकी दया और उनके स्वरूप मिलते हैं।

प्रश्न—अहिंसा यदि निरवद्य है, तब फिर दया सावद्य एवं निरवद्य दोनों प्रकारकी कैसे हो सकती है? यदि ऐसा है तो 'पापाचरणात्मरक्षा दया' इसका क्या आधार है?

उत्तर—वस्तुतः दया और अहिंसा एक है, इस दृष्टिकोणसे 'पापाचरणादात्मरक्षा दया' यह सूत्र रचा गया है। पारमार्थिक दया या यों समझिये कि जो दया अहिंसाकी परिधिमें रहती है, वह निरवद्य ही होती है किन्तु लौकिक क्षेत्रों में मोह, राग, एवं स्नेहके अर्थमें भी दया शब्दका व्यवहार होता है, अतः उसको ध्यानमें रखकर दयाके सावद्य एवं निरवद्य यह दो भेद किये जाते हैं। अर्थात् जो दया मोह राग स्नेहात्मक होती है, वह सावद्य है—वास्तविक दया नहीं, केवल व्यावहारिक या लौकिक दया है और जो इन बन्धनों से रहित होती है, यह वास्तविक दया या आध्यात्मिक दया है।

प्रश्न शुद्ध और शुभ भावमें फर्क है या नहीं? शुद्ध भाव अरूपी और शुभ भाव रूपी, यह क्या हो सकता है?

उत्तर—आगमोंमें इनका कोई भी उल्लेख नहीं है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने इनमें अन्तर माना है और वह संभवतः लौकिक शुभ कार्योंकी जटिल समस्याको सुलझानेके लिये ही। धर्मके बिना

भी पुण्य बन्ध मानकर उसकी एक नई व्यवस्था कर दी। जैसे जिससे पापकर्मका बन्ध हो वह अशुभ भाव, जिससे केवल पुण्य बन्ध हो, वह शुभ भाव और जिससे आत्मशुद्धि हो वह शुद्ध भाव। किंतु तपस्याके बिना—निर्जरा धर्मके बिना, पुण्यका बंध कहीं भी नहीं होता अतः शुभ और शुद्ध भावको पुण्य बन्धकी दृष्टिकोणसे पृथक् मानना असंगत है, क्यों कि तेरहवें गुणस्थान तक निर्जराके साथ प्रतिक्षण पुण्य बन्ध होता रहता है तथा जहां कहीं भी शुभ योग प्रवृत्त होगा, वहां निर्जरा अवश्य होगी अतः पुण्य बन्धके लिए स्वतन्त्र कोई स्थान भी नहीं है और यदि संवरकी अपेक्षा शुद्ध भेद किया जाय यानि निर्जराको शुभ भाव और संवरको शुद्ध भाव मानकर—निर्जराके साथ पुण्य बन्ध होता है अतः वह शुभ भावरूपी है और संवर आत्माकी संवृत अवस्था है अतः वह शुद्ध भाव अरूपी है। इस प्रकार माना जाए तो शास्त्रीय दृष्टिकोणमें कोई आपत्ति तो नहीं आती, किन्तु ऐसा माननेसे उनका वह दृष्टिकोण भी सफल नहीं होता।

प्रश्न—मार्गसे तेजी हुई गाड़ी आ रही है। मार्गमें कोई एक अबोध बालक सोया हुआ है। कोई दयालु पुरुष उसे बचानेके लिए वहांसे उठा ले, उसमें धर्म है या नहीं?

उत्तर—आप इसका समाधान किस दृष्टिकोणसे चाहते हैं? लौकिक दृष्टिसे या आध्यात्मिक दृष्टिसे? लौकिक दृष्टिसे हम उस मानवके कार्यको लोक-धर्म कहते हैं क्योंकि लौकिक दृष्टिमें [illegible] और जिलानेका महत्त्व है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि

नहीं खाती। उसमें संयमका महत्त्व है, जीने एवं जीवित रखने का नहीं। कौन ऐसा दार्शनिक है, जो उक्त कार्यको सांसारिक बन्धन न मानकर आत्म साधना मानेगा। सांख्य आदि जैनेतर दर्शनोंने भी ऐसे रागात्मक कार्योंको बन्धन कहा है। हरिण को पालनेवाले भरतका उल्लेख करते लिखा है—

अहायनानुचिन्तन बन्धाय भरतवत्।'

प्रत्येक दर्शन जब गहराईमें उतरता है, तब इन सांसारिक बंधनों से दूर भूमिकामें जाकर धर्मका निरूपण करता है।

धर्मसे आपका तात्पर्य त्याग तपस्यामय आत्म साधनासे है या अन्य किसी वस्तुसे? यदि आपको धर्मका उक्त अर्थ मान्य है तो सिर्फ आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे उक्त दोनों प्रश्नों का उत्तर ऐसा होगा कि गाड़ीसे बालकको बचाना तथा जलते हुए बाड़ेसे गउओं को निकालना आत्म साधनारूप धर्म नहीं है और यदि आप धर्मका अर्थ लौकिक आचरण या कर्त्तव्य मानते हैं तो उस दृष्टिकोणसे हम भी उक्त कार्योंको लोक धर्म कहते हैं।

प्रश्न—तेरापन्थी साधु साध्वियों के सिवाय सब दानके अपात्र हैं, यह किस आधार पर मानते हो?

उत्तर—हम यह कभी नहीं कहते कि तेरापंथी साधुओं के सिवाय दानका कोई पात्र नहीं है। पात्रकी परिभाषा सिर्फ आध्यात्मिक है और उस (आध्यात्मिक) दृष्टिकोणसे दानका पात्र वही है, जो अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों का पालन करे एवं संयमी जीवन बिताए, फिर चाहे वह तेरापंथी हो या कोई दूसरा हो।

प्रश्न—कोई दयालु श्रावक जलते हुए बाड़ेसे गायों को निकाले, उसमें धर्म है या पाप ?

उत्तर—ये लोकधर्म या समाज धर्मकी प्रवृत्तियां हैं, आत्म-साधना नहीं। एक समृद्ध व्यक्ति समस्त कुटुम्बका पालन-पोषण करता है, प्रान्तीय सरकार आपके प्रान्तका एवं आपकी केन्द्रिय सरकार समूचे भारतका भरण पोषण करनेमें लगी हुई है। क्या व मन्त्रीगण इसे आत्म साधना मानते हैं ? नहीं, यह उनका राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है, जिसके कन्धों पर जो भार होता है, उन्हें वह निभाना ही पड़ता है। तब फिर अपनेको समाजका उत्तरदायी माननेवाला व्यक्ति आगमें जलती हुई गायों को बचाकर अपने उत्तरदायित्वका पालन करे, उसमें धर्मको घसीटनेकी क्या आवश्यकता है ? न जाने मनुष्योंका क्या स्वभाव है कि जो वे दूसरों का एक तिनका भी इधरसे उधर करते हैं, उस पर भी धर्मकी छाप लगाये बिना नहीं रह पाते। अपने घरेलू काम धन्धों में तो धर्मको ढूंढ़ निकालनेका कोई रास्ता नहीं मिलता और दूसरों का कोई थोड़ा सा काम कर देते हैं, उसमें धर्मको दुहाई दिये बिना उन्हें सुखकी सांस नहीं आती। दूसरों की गायें आगसे निकाली गई, उसमें धर्म हो गया, सेना राष्ट्रको बचाती है वह भी धर्म है। यदि यह सब धर्म ही धर्म होगा तो समझमें नहीं आता फिर सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्वमें और आत्म-साधनामें क्या अन्तर होगा। मोक्ष और संसारमें क्या भेद होगा। अतः विचारशील मनुष्यों को चाहिए कि वे मोक्ष एवं संसार, आत्म-

साधना एवं लौकिक उत्तरदायित्वका सम्मिश्रण न करें।

प्रश्न—तेरापंथी मरते हुए जीवको बचानेमें इसलिये धर्म नहीं मानते हैं कि बचा हुआ प्राणी अपने जीवनमें जो कोई अधर्म करेगा, उसका वह बचानेवाला भी भागी होगा इसका क्या कोई शास्त्रीय प्रमाण है?

उत्तर—तेरापंथका ऐसा मन्तव्य नहीं है। बादमें होनेवाली क्रियाओंसे बचानेवालेका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। बचनेवाला बादमें साधु बन जाय, उसका बचनेवालेको धर्म नहीं होगा और यदि क्रूर कर्म करे, उसका अधर्म नहीं होगा, क्योंकि धर्म और अधर्म वर्तमानकी अच्छी या बुरी क्रिया पर ही निर्भर रहते हैं।

प्रश्न—अन्न-जलके बिना मानव जीवित नहीं रह सकता। जीवित रहे बिना वह धर्म कैसे करे? इसलिए अन्न-जलकी सहायता धर्मको निमित्तभूत होनेके कारण आध्यात्मिक धर्ममें आनी चाहिए।

उत्तर—तर्जन यह न्यायसंगत नहीं। जब हम सूक्ष्मतामें पैठेंगे तो हमें पता चलेगा कि अध्यात्म धर्म प्राणीकी त्याग, सन्तोष, आत्म दमन विषयक क्रिया ही है। भोजन पानी धर्माचरणमें व्यवहित कारण अवश्य बनते हैं लेकिन अव्यवहित नहीं। इस लिए ऐसी सहायता करनेवाले व्यक्तिकी क्रिया आत्म धर्मका साक्षात् कारण नहीं बनती। जैसे कि जैन न्यायके विशारद अचार्य आगम निमित्तमात्रको ही प्रमाण नहीं मानते। जो साधकतम—मुख्य साधन होता है, उसीको प्रमाण मानते हैं।

साधकमात्रको प्रमाण माननेसे एक बड़ी समस्या उपस्थित होती है, वह यह कि इन्द्रिय और पदार्थका सामीप्य या सन्निकर्ष होनेसे हम वस्तु बोध होता है। वस्तु बोधमें सामीप्य साधन है किन्तु वह प्रमाण नहीं। क्योंकि वस्तु बोधमें वह अनन्तर कारण है—आत्मस्थ ज्ञान। अतः वही प्रमाण है। सामीप्यको प्रमाण मान लेनेसे दूध, दही, भोजनादि पदार्थोंको प्रमाण मानना होगा। क्योंकि सामीप्यकी तरह वस्तु बोधमें वे भी साधन हैं। इन पदार्थोंके उपयोगके बिना हमारी इन्द्रिया में सक्रियता नहीं रहती। इनके अभावमें इन्द्रिय और वस्तुका कैसे सामीप्य हो और कैसे वस्तु बोध हो। दूध, दही आदि पदार्थ साधन हैं लेकिन प्रमाण नहीं। यद्यपि नैयायिकोंने सामीप्यका भी प्रमाण स्वीकार किया है। किन्तु जैन नैयायिकोंने उसका पूर्ण विरोध किया है। फलितार्थ यह है कि वस्तु बोधमें साधकमात्रको प्रमाण न मानकर साधकतमको ही प्रमाण माना है।

ऐसी स्थितिमें सत्प्रवृत्तिके साधनमात्रको आत्म धर्म मानना कैसे संगत हो सकता है?

परिशिष्ट १

एक भाई लखे छे

'पारोने हुं संसारी छुं । समाळ राख्या छतां, रोटलामां मांकड पड्या छे, तेने वीणतांये केटलाक मरी जाय छे, माटलाना पाणीमां पोरा पड्या छे ते पाणी फेंकी देतां था नाना जीवोनी हिंसा थाय छे, घरमां करोळियाना जाळां छे ते साफ करतां हिंसा थाय छे। पारोके हुं वेपारी छुं । मालनी पेटीमां जीवडां पड्या छे ते जीवडां दूर न करूं तो मालने नुकसान थाय । हुं फरवा जाऊं छुं तो ते क्रियामांये पगतळे थोडाघणा पण जीवो कचराई जाय छे। घसी सरगावुं छुं त्यां ये पण विटंबणा। सिद्धादिनुं तो पूछवुं शुं । आवां अनेक दृष्टान्तो बीजां हुं आपी शकुं छुं, तमो घटावी शकशो। हवे अहिंसा धर्म आ संजोगोमां कई रीते पळाय ?

आवो जातना प्रश्नो वखतोवखत थया करेछ। आ प्रश्नो नजीवा समजी नाखी देतां पण पालवे तेम नथी। आवा प्रश्नोनी चर्चा पश्चिममां तेम ज पूर्वमां गूढ ग्रंथोमां पण थयेली छे। मारी अल्पमति प्रमाणे बधा प्रश्ननो एक निकाल छे, कारणके बधानी

जड एकज वस्तुमां रहेली छे। उपर कहेली बधी क्रियाओ मां हिंसा छे ज, केमके, क्रिया मात्र हिंसामय छे, तेथी सदोष छे। अल्पमात्र ओछावत्ता प्रमाणनो छे। देहनो अने आत्मानो सम्बन्धज हिंसा उपर रचायेलो छे। पापमात्र हिंसा ■ अने पापनो सर्वथा क्षय एटले देहमुक्ति, तेथी देहधारी अहिंसाने आदर्श गणीने जेटले दूर जइ शकाय तेटले दूर जाय। पण दूरमां दूर जतां छतां कोइक हिंसा अनिवार्य रहेशे जेमके श्वासोच्छ्वास अथवा खाउं। अनाज ना कणे कण मां जीव तो छे ज एटले जो आपणे मांसाहारने बदले अन्नाहार करीए छीए ता हिंसा मांथी मुक्त रहीए छीए एम न कहेवाय, पण अन्नाहारमां थती हिंसाने अनिवार्य समजी ते आहार करीए छीए, अने तेथीज भोगने अर्थे आहार सर्वथा त्याज्य छे। जीववाने अर्थे न खाय अने जीववु ते आत्मानी ओल खवाने अर्थे। ए पुरुषार्थ साधवाने अर्थे जे हिंसा थती होय ते हिंसा ना लाचार थइ आपण भाग रहेल। हवे आपणे जोइ शकीए छीएके, सम्पूर्ण सभाल लेतां छतां पाणीमा पडेला जीवो, मांकड इत्यादिने विषे जे जे वस्तु आपणने अपरिहार्य लागे ते आपणे करीए। अमुक वखते अमुक सजोगमा प्रत्येक मनुष्य एकज चाल चाले एवो कोई दिव्य नियम होइ न शके एम हु मानु छु। अहिंसा हृदयनो गुण छे। हिंसा अहिंसा नो निर्णय भावना उपरथी थइ शके। तेथी प्रत्येक मनुष्य जे अहिंसा धर्मने पोतानु कर्तव्य माने छे ते ऊपरना सिद्धान्तने अनुसरीने पोतानु कार्य गोठवी ले। हु जाणु छु के, आवो जवाब आपवामा एक दोष रहेलो छे। मनुष्य पोतानी

इत्यादि काय तटली हिंसा करीने मनने छतरे अथवा जगतने छेतरे अने अनिवार्यतानु वहानु काढीने हिंसानो बचाव करोल। एवा ओने सारु आ लख नथु। पण जेओ अहिंसाने मान आपनार छे, पण जेओनी सामे वखतोवखत धर्म सकट उभु थाय छ तेओने सारु छे। तेवा मनुष्यो अनिवार्य हिंसा पण सकोचाइने करशे अने पोतानी प्रवृत्ति मात्रनो विस्तार ओछो करशे पण वधारशे नहीं। ते एटले सुधारे, पोतानी एक पण शक्ति ना उपयोग स्वार्थ-दृष्टिए नहि करे। केवल समाज सेवाना भावथी ज इश्वरापण रहीने सर्व-शक्ति वापरशे। सत एटले अहिंसक, एटले दयालु मनुष्योनी बधी विभूतिओ परोपकारने ज अर्थे होय। ज्या हुपणु छ त्या हिंसा छ ज। दरेक काय करती वखते मनने आ प्रश्न पूछी लेवो "अहीं 'हुं' छु के नथी ?" ज्यां 'हु' नथी त्यां हिंसा नथी।

सा० ६ ६ २६

एक भाइ पूछे छे

'नानां नानां जतुओ एकबीजानो आहार करता अनेक वार जोइए छीए। मारे त्यां एक घरोलीने एवो शिकार करतां रोज जोउ छु, अने बिलाडाने पक्षीओनो। शु ए मारे जोया करवो ? अने अटकाववां बीजानी हिंसा करवी ? आवी हिंसा अनेक थया ज करे छे, आमां आपण श करवु' ?

उ० में आवी हिंसा नथी थती जोई शु ? घणीये वार घरोली ने पांदानो शिकार करती अने पांदाने बीजा जन्तुओ नो शिकार

करता में जोया छे। पण ए जीवो जीवस्य जीवनम नो प्राणीजगतनो कायदो अटकाववानु मने कदी कर्तव्य नथी जणायु। ईश्वरनी ए अगम्य गूच उकेलवानो हु दावो नथी करतो। पण एवी हिंसा जाइ जोइने मने तो प्रतीत थाय छे के, पशु अने उतरता योनिमो कायदो ते मानव यानिनो कायदो नथी, माणसे तो रत्तथा प्रयत्न करीने पोतानी अदर रहेला पशुने जीतवानो अने तेने मारान आत्माने जीतवो रासयानो प्रयत्न करवानो छे। पोतानी आसपास चाली रहेला हिंसाना दावानल मांथी अहिंसा नो महामत्र शीखवानो छे। पटले माणस जो पोतानी प्रतिष्ठा समजे अने पोतानु जीवन कार्य फलीजाय तो तेणे हिंमामां पोते भाग लता अटकवु अने पोताना थी ऊतरता अथवा पोताने ताबेना प्राणीओ ने कनडतां अटकवु ए आदर्श ए पोताने माटे ज राखा शक छे अने फाइ नहि तो पोतानाथी नवला पोताना बधुओ ने कनडतोतो ते अटकी शके छे अने " पण आदर्श,—कारण तेये स्पूणपणे पाल्याने माटे तेणे सतत दिनरात प्रयत्न ज चालु राखवो रह्या, त्यारे कोई दिवस ते तेने पहोंची शकशे। आया पूरी सफलता तो त्यारे ज मली शके के, ज्यारे माणस मोक्ष मेलवी देहना तमाम बधनथी मुक्त थाय।

ता० १८ ४ २६

(महात्मा गाधी द्वारा लिखित
अहिंसा पष्ट २७)

परिशिष्ट २

दया भगवती जीवोको सुख देनेवाली है। यह मोक्षकी साई है। इसकी शरण जानेवाले शीघ्र ससारका पार पाते हैं।

भगवान्ने दयाको मगलमय, पूजनीय और भगवती कहा है। उसके प्रश्न व्याकरणसूत्रमे गुणानुसार साठ नाम बतलाये हैं।

सर्वदा, *सर्वप्रकारसे, †किसी प्रकारके जीवको भय उत्पन्न न करना, अरिहन्त भगवान्ने अभय दान बतलाया है—यह भी दयाका ही नाम है।

सर्व प्रकारसे—तीन करण और तीन योगसे—सब जीवो को—त्रस (चलते फिरते) और स्थावर (स्थिर) जीवो को—यावज्जीवन मारनेका त्याग करना—उनकी हिंसासे निवृत्त होना भगवानकी बतलाई हुई सम्पूर्ण दया है। ऐसी दयासे पापके दूर

---

* मन वचन और काया द्वारा करन, कराम और अनुमोदनरूप।

† पृथ्वीकाय, जलकाय वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय (हलते चलते प्राणी)—य छ प्रकारके जीव जैन शास्त्रोमे बतलाये गये हैं।

वाले रुक्ते हैं। ऐसे दयावान्को बराबरी कौन कर सक्ता है।

कोइ त्याग किये बिना भी हिंसासे दूर होता है तो उससे कर्मों का क्षय होता है। हिंसा दूर करनेसे शुभयोगका प्रवर्तन होता है जिससे पुण्यके पुञ्जर पुञ्ज सचय होते हैं।

इस दयाके पालनसे पापकर्मोंका प्रवेश रुक जाता है और पुराने कर्म भडकर नष्ट हो जाते हैं। इन दो ही लाभो मे अनन्त लाभ समाजाते हैं ऐसी दया विरले शूर ही पाल सकते हैं।

उपरोक्त सम्पूर्ण दया ही प्रथम महाव्रत है। इस महाव्रतमें सम्पूर्ण दया समाई हुई है। महाव्रतको धारण करनेवाला साधु पूरी दयाका पालन करता है। महाव्रतके उपरान्त और दया नहीं रह जाती।

इस दयाको जो सम्यक्-प्रकारसे आराधना करता है और जो ऐसी ही दयाके सिद्धान्तका प्रचार करता है, उसको भगवान्ने न्यायवादी कहा है।

केवली भगवान्, मन पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, लब्धिधारी तथा पूर्वधर ज्ञानियोंने इसी दया तत्त्वकी उपासनाकी है—इसकी गवाही सूत्र भरते हैं।

दया दया सब कोई चिल्लाते हैं—दया ही वास्तविक धर्म है, यह ठीक है—परन्तु जो सच्ची दयाको जानकर उसका पालन करता है, मोक्ष उसीके नजदीक होता है।

दया प्रथम व्रत है और साधु तथा श्रावक दोनो के लिए समान रूपसे प्रधान धर्म है इससे नये पापो का सचार रुकता है और पुराने पाप भडकर दूर होते हैं।

जिन भगवान्ने मन, वचन और काया इनमेंसे एक दो या सबके द्वारा छह प्रकारके जीवोंमेंसे किसी जीवकी हिंसा न करने, न कराने और न अनुमोदन करनेको अर्थात् हिंसासे सम्पूर्ण निवृत्त होनेको सम्पूर्ण दया बतलाया है।

तीन करण और तीन योगसे किसी भी प्राणीके लिए भयका कारण नहीं होना—इस अभयदानको ही भगवानने दया कहा है।

जीवोंका बच जाना कोई दया नहीं है और न जीवोंका मर-जाना मात्र हिंसा है। मन, वचन और कायासे स्वयं हिंसा नहीं करना, न करवाना और न करते हुओंसे सहमत होना—यही दया है। जो इस प्रकार हिंसासे निवृत्त है, वह दयावान् है—नहीं मारनेवाला है, जो निवृत्त नहीं है—वह हिंसावान् है, मारने वाला है, जो मारने वाला है हिंसा उसीको होती है, जो नहीं मारनेवाला है वह तो दया रूपी गुण रखनेवाला है।

भय दिखाकर, जोर-जबरदस्ती कर, लोभ लालच देकर या ऐसे ही अन्य उपायों से दया पलवाना कोई दया धर्म नहीं है। यह तो दूसरेके लिए अपनी आत्माका पतन करना है, दया हृदयकी चीज है वह बाहरसे ठूसी नहीं जा सकती।

भगवान्के शब्दोंमें कहाजाय तो अहिंसा आदि गुणोंको उत्तरोत्तर विकसित करनेवाला प्राणी शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी तरह क्रमशः परिपूर्णताको प्राप्त करता है। हिंसा तथा असत्य आदि (जो कि हिंसाके ही रूप हैं) के आचरणसे जीव भारी होता है। ऐसा जीव मरण पाकर अधोगतिको जाता है। अहिंसा तथा

अहिंसाके भिन्नरूप सत्यादिके आचरण द्वारा हिंसादिके कुसंस्कारों को क्रमश कम करता है। अन्तमें जब ये कुसंस्कार निर्मूल हो जाते हैं तो आत्मा अपने सच्चे स्वरूपको प्राप्त कर अजर अमर होती है।

इस प्रकार अहिंसा आत्म शुद्धिका अनन्य साधन है, जिस प्रकार उच्चस्थानसे जल ढलकर नीचे गिर पड़ता है उसी प्रकार अहिंसासे निरन्तर भावित हानेवाले प्राणीके कर्म ढल जाते हैं। अहिंसाकी उपासनाका ध्येय केवल आत्म शुद्धि ही है। आत्माकी पवित्रतामें सहायक होनेसे अहिंसा उपास्य है।

पर कुछ दार्शनिकों का कहना है कि अहिंसाके आचरणका मूलोद्देश्य आत्म शुद्धि बतलाना ठीक नहीं। अहिंसा जीवों की रक्षाके द्वारा आत्म शुद्ध करती है अत जीव-रक्षा करनेके खास उद्देश्यसे ही अहिंसा व्रत स्वीकार किया जाता है।

उनका कहना है कि अहिंसासे आत्म शुद्धि होती है पर वह तो कार्यमात्र है। इसका निमित्त जीवों की रक्षा होता है। इस-लिए अहिंसा अङ्गीकारका मूल लक्ष्य जीव-रक्षा है।

अपने इस मन्तव्यको स्पष्ट करनेके लिए वे उदाहरण देते हैं कि कोई मनुष्य वनस्पति भोजनका त्याग करता है या दूसरेसे करवाता है या कोई मनुष्य स्वयं चोरीका त्याग करता है या दूसरे को चोरी करनेका त्याग कराता है तो इन उदाहरणों में वनस्पति की रक्षा होना या किसीके धनकी रक्षा होना कारण कहलायेगा और अपना या दूसरेका पाप दूर होना कार्य कहलायेगा। वन-

इसलिये जीव बचे और धन सुरक्षित रहा तभी पाप दूर हुए कहलाये इसी प्रकार जीव जीवित रहे तभी दया निपजी (हुई) ऐसा उपरोक्त दार्शनिको का कहना है।

परन्तु ये दार्शनिक भ्रममें पड़े हुए हैं। वे कारण और कार्य के भेद और परस्पर सम्बन्धको नहीं समझते। कुछ समयके लिए यह स्वीकार भी किया जाय कि पापसे रक्षा होना कार्य है तो भी क्या कहा जा सकता है कि जीव रक्षा हुई तभी पापो से बचाव हुआ? क्या अहिंसाव्रत धारण कर लेनेके बाद जीवो की घात होती ही नहीं? क्या सम्पूर्ण अहिंसाव्रतधारी साधु उठते बैठते, खाते-पीते जीवो का नाश नहीं करता—ऐसा कहा जासकता है?

खाते पीते, उठते-बैठते, चलते फिरते साधु द्वारा जीवो का नाश होता है फिर भी वह सम्पूर्ण अहिंसक ही है क्योंकि अन्तर-वृत्तियोंके निरोधके कारण वह हिंसाकी जरा भी भावना नहीं रखता। वह हिंसासे सबप्रकारसे निवृत्त हो चुका होता है तथा आत्म-जागृतिपूर्वक बचनेका प्रयत्न करता रहता है। इस पर भी अपने अपने निमित्तसे जीव मरते ही रहते हैं उनका पापी वह नहीं कहला सकता।

पापो से बचना और जीव रक्षाका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। सम्यनाम प्राणो का वियोग निश्चित रहता है फिर भी क्या अहिंसाका पूरा पालन नहीं होता? हम गृहस्थ खुद खाते पीते हैं—हमारे जीवनकी रक्षा होती है परन्तु यह अहिंसा है—क्या ऐसा कहा जासकता है?

अहिंसासे समभावका विकास होता है, चित्त वृत्तियोंका संयम होता है, क्रोध आदि कषायोंसे निवृत्ति होती है जिससे नये कर्मोंका प्रवेश नहीं होता और पुराने कर्मोंका क्षय होता है इसलिए अहिंसा आचरणीय है। पापसे बचनेका अविनाभाव सम्बन्ध जीव रक्षाके साथ नहीं परन्तु हृदयकी अहिंसामय भावनाओंके साथ है—हिंसासे निवृत्ति होनेके साथ है। भगवानने हिंसासे प्रत्याख्यानपूर्वक निवृत्ति होनेको प्रथम व्रत बतलाया है और कर्मों को रोकनेके साधनोंमें खास स्थान दिया है।

यह कहना गलत है कि जीव बचे रहें तभी दया निपजी। जो ऐसा कहते हैं वे अहिंसाके प्रयोजन और परिणामके पार्थक्य को समझनेमें भूल करते हैं। जीव रक्षा अहिंसाका परिणाम—फल हो सकता है—होता ही ऐसी बात नहीं है—पर उसका प्रयोजन नहीं है।

वृष्टि होती है, उससे कृषि हरी भरी हो सकती है परन्तु वर्षा कृषिके लिए ही होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। नदीके जलका स्रोत नदीके किनारों पर बसनेवाले प्राणियोंके लाभका कारण हो सकता है, जलवायुको स्वस्थ कर सकता है, अगल बगलकी भूमिको उपजाऊ बना सकता है और लाखों करोड़ों रुपयेके व्यापारमें सहायक हो सकता है परन्तु क्या नदी इन्हीं उद्देश्यों से बहती है? क्या उसे जीवनकी साधना यही कही जा सकती है? इसी प्रकार अहिंसाका प्रयोजन हिंसारूपी चित्त-मलको दूर करना है, जीवोंकी रक्षा उसका प्रयोजन— नहीं। अहिं

आचरणसे शान्तिका वातावरण उत्पन्न हो सकता है—जीवों की रक्षा भी हो सकती है परन्तु इन्हें अहिंसाके आनुषङ्गिक फल समझना चाहिए—इसका खास प्रयोजन नहीं।

व्रतों को अङ्गीकार कर साधु कहता है—'मैं छः व्रतोंको अपनी आत्माके हितके लिए अङ्गीकार कर विहरता हूं'—ऐसा दशवैकालिक सूत्रमें साफ उल्लेख है, देखकर निर्णय करो।

हे भव्य! तुम वृक्षादिको न काटनेका व्रत लेते हो, वृक्षा की रक्षा होती है, तालाब, सर आदि न सुखानेका नियम करते हो, तालाब जलसे परिपूर्ण रहता है, लड्डू आदि मिठाई खानेका प्रत्याख्यान करते हो, मिठाई बचती है, दव लगाने, गाँव जलाने आदि सावद्य कार्योंका त्याग करते हो इससे गाँव, जङ्गल आदिकी रक्षा होती है। तुम चोरी करनेका त्याग करते हो, दूसरेके धन की रक्षा होती है। परन्तु वृक्ष तालाब, लड्डू, गाँव आदिके इस प्रकार बचानेसे तुम्हें धर्म नहीं है, न धनकी रक्षा पर धनीके राजी होनेसे। तुम्हारा धर्म इन सबसे परे—तुम्हारे आत्म संयम—तुम्हारी पापों से विरति में है। तुम व्रत ग्रहण कर अव्रतको दूर करते हो, आते हुए कर्मोंको रोकते हो, वैराग्यसे आत्माको भावित करते हो इसीसे तुम्हें धर्म है—तुम्हारी आत्माका निस्तार है।

(श्रीमज्जाचार्य भीखणजीके विचार रत्न से)

शीघ्र प्रकाशन—

* धर्मबोध भाग ३ (प्रेसमें)
* जैन सिद्धान्त दीपिका "
* कालूकौमुदी (संस्कृत-व्याकरण) "
* जैनवाणी (प्रथम किरण)
* जैनवाणी (द्वितीय किरण)
* आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
* ज्ञान कण, आदि।